विषय सूची

भूमिका

तैत्तिरीय-उपनिषद्, तैत्तिरीय आरण्यक का एक भाग है, जो आरण्यक कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा का है। इसके दस प्रपाठकों में से पहले छः कर्मकाण्ड के विषय में हैं; सातवां आठवां और नवां प्रपाठक तैत्तिरीय वा तैत्तिरीयक उपनिषद् है। दसवां प्रपाठक याज्ञिकी वा महानारायण उपनिषद् है, जो खिल कहलाता है। अर्थात् यह आरण्यक में एक परिशिष्ट के तौर पर है।

इस उपनिषद् के तीन अध्याय हैं। पहला अध्याय शिक्षा-वल्ली दूसरा ब्रह्मवल्ली वा ब्रह्मानन्दवल्ली और तीसरा भृगुवल्ली कहलाता है। इनको शिक्षा ऽध्याय; ब्रह्मवल्ल्यध्याय और भृगुवल्ल्य-ध्याय भी कहते हैं।

उपनिषद् के जिज्ञासुके लिये जो २ शिक्षाएं ब्रह्मविद्या से पहले आवश्यक हैं, उनका वर्णन पहले अध्याय में है। इसी लिये इसको शिक्षावल्ली और शिक्षा ऽध्याय-कहते हैं।

दूसरे अनुवाक के अन्तमें जो कहा है 'इत्युक्तः शीक्षाध्यायः' इससे यह अभिप्राय नहीं लेना चाहिये,कि शिक्षा ऽध्याय इसी अनुवाक का नाम समुचित है। किन्तु इस अनुवाक में जो शिक्षा है,वह वर्णों के उच्चारण की शिक्षा है। और वर्णोच्चारण की शिक्षा का नाम शिक्षा प्रसिद्ध है और था। इसलिये इस अनुवाक के अन्त में कहा है, 'इत्युक्तः शीक्षाऽध्यायः'। पर सातवें सारे प्रपाठक (१२ अनुवाकों) का नाम जो शिक्षावल्ली वा शिक्षाऽध्याय है, वह उन सब प्रकार की शिक्षाओं के अभिप्राय से है, जो इस प्रपाठक में है।

शिक्षावल्ली जो आरण्यक में सातवां प्रपाठक है, और यहां उपनिषद् में पहला अध्याय है, उसमें १२ अनुवाक हैं। इस अध्याय में हर एक अनुवाक के समाप्त होने पर कुछ प्रतीकें दीगई हैं, और फिर अध्याय के समाप्त होने पर एक दूसरे ही प्रकार की प्रतीकें दीगई हैं, उनके समझने में लोगों को प्रायः भ्रान्ति हुई है। हम उनका आशय साथ२ खोलते जाएंगे। ब्रह्मानन्दवल्ली, जो आरण्यक में आठवां प्रपाठक और उपनिषद् का दूसरा अध्याय है, उसमें ९ अनुवाक हैं। भृगुवल्ली जो आरण्यक में नवां प्रपाठक और उपनिषद् का तीसरा अध्याय है, उसमें १२ अनुवाक हैं। इन दोनों अध्यायों में एक २ अनुवाक की समाप्ति में तो कोई प्रतीक नहीं दीगई, जैसे कि पहले अध्याय में थीं, किन्तु केवल अध्याय की समाप्ति में प्रतीकें हैं, और वे एक नए ढंग पर हैं।

मानुष जीवन का परम लक्ष्य अभय पद में स्थिति है, जो ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होती है, और ब्रह्मज्ञान उन शिक्षाओं पर चलने से मिलता है, जो शिक्षावल्ली में कही हैं। विशेषतः ४, ९ और १० वें अनुवाक की शिक्षाएं लोक परलोक दोनोंके सुधारने वाली हैं।

पहला अनुवाक ॥ १ ॥

ओम् शन्नो मित्रः शं वरुणः। शंनो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शंनो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि।

तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥

सत्यंवदिष्यामि पञ्चच ॥ अनु० १ ॥ *

अर्थ—मित्र हमारे लिये सुखस्वरूप हो और वरुण सुखरूप हो, अर्यमा हमारे लिये सुखरूप हो, इन्द्र और बृहस्पति हमारे लिये सुखरूप हो, उरुक्रम (बड़ी पहुंच वाला) विष्णु हमारे लिये सुखरूप हो ॥ नमस्कार है ब्रह्मको, नमस्कार है तुझे हे वायो ! तूही प्रत्यक्षब्रह्म है । मैं तुझेही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा। ऋत कहूंगा। सत्य कहूंगा। वह (सत्य) मेरी रक्षा करे । वह वक्ता (आचार्य) की रक्षा करे। रक्षा करे मेरी, और रक्षा करे वक्ता की । ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः † ॥१॥

---

* 'सत्यं वदिष्यामि, पञ्चच' ये वाक्यों की प्रतीकें दी हैं। इसका अर्थ यह है। सत्यं वदिष्यामि और पांच अर्थात् 'सत्यवदिष्यामि' तक दस वाक्य हैं और उसके पीछे पांच वाक्य और हैं। सारे पन्द्रह वाक्य इस अनुवाक में हैं। इसी तरह आगे भी हर एक अनुवाक के पीछे गिनती दी गई है। गिनती के लिये जहां दस वाक्य समाप्त होते हैं, वहां की प्रतीक दी जाती है, जैसे यहां 'सत्यंवदिष्यामि'। इसके आगे यदि और भी दस वाक्य होते, तो अगले दहाके की इससे आगे प्रतीक देते, जैसे तीसरे अनुवाक में चार प्रतीकें दी हैं। अनुवाकों के मध्य में जो इस तरह कोष्ठ (१) के अन्दर १,२, इत्यादि अंक दिये हैं, वह दहाकों की गिनती है। अन्तिम दहाके में वे वाक्य मिला लिये जाते हैं, जो दस से अधिक हों, जैसे यहां १ का अंक १५ वें वाक्य के पीछे है। अर्थात् इस अनुवाक में वाक्यों का दहाका एक ही है। इसी तरह सब जगह गिन लेना चाहिये॥

† यह शान्ति पाठ है, जो इस उपनिषद् के आरम्भ में पढ़ा जाता है। इसका पढ़ने वाला शिष्य है, इसी लिये वह अपने लिये और

जिस तरह जीते जागते शरीर से जो कुछ प्रकाश पाता है, वह सब आत्मा के आश्रय है, आंख देखती है, कान सुनते हैं, वाणी बोलती है और मन सोचता है । यह सब जीवित पुरुष के धर्म आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं। और आत्मा इन २ धर्मों के सहारे अलग २ नाम धारण करता है। आंख के धर्म को लेकर वह द्रष्टा है और श्रोत्र के धर्म को लेकर श्रोता है । यद्यपि ये सारे नाम एक ही आत्मा के हैं, तथापि उन का सम्बन्ध अलग २ इन्द्रिय से है, जिसके द्वारा आत्मा की वह शक्ति प्रकाशित होती है । आंख का अधिष्ठाता होकर ही आत्मा द्रष्टा है, श्रोत्र का अधिष्ठाता होकर वह द्रष्टा नहीं कहलाता । इसी प्रकार इस जीते जागते विश्व से जो कुछ प्रकाश पारहा है, वह सब उस परमआत्मा के आश्रय है। "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"=उसके प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है। जिसके आश्रित आग जलती है, उसी के आश्रित सूर्य तपता है और बिजली चमकती है। यह इस जीवन्त विश्व के धर्म उस परम आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं । और परमात्मा इन धर्मों के सहारे अलग २ नाम धारण करता है, सूर्य के धर्म को लेकर वह सूर्य है और बिजली के धर्म को लेकर वह इन्द्र है । यद्यपि ये सारे नाम एक ही परमआत्मा के हैं, तथापि उनका सम्बन्ध इस विश्व की एक अलग २ दिव्यशक्ति से है, जिसके द्वारा परमात्मा की वह शक्ति प्रकाशित होती है। सूर्य का अधिष्ठाता होकर वह सूर्य ही कहलाता है, बिजली का अधिष्ठाता होकर वह सूर्य नहीं कहलाता । इसी प्रकार बिजली का अधिष्ठाता होकर वह इन्द्र कहलाता है । यही

आचार्य के लिये इन भिन्न वाक्यों से प्रार्थना करता है, 'वह मेरी रक्षा करे, वह वक्ता की रक्षा करे' ॥ यहां मित्र, वरुण आदि शब्द व्यष्टि रूप में अपर (शबल) ब्रह्म के बोधक हैं। शबल ब्रह्म से यह अभिप्राय है, कि इस जगत् में सर्वत्र परमात्मा का प्रकाश है, जो अलग २ शक्तियों द्वारा अलग २ महिमा से प्रकाशित होरहा है।

शबल ब्रह्म है, यही अपर ब्रह्म है. यही इन्द्र आदि देवता हैं । वह एक ही परम देवता है, जो अधिष्ठान भेद से भिन्न २ नामों से पुकारा जाता है "यो देवानां नामधा एक एव" (ऋग् १० । ८२ । ३)=जो एक ही सारे देवताओं के नाम धरने वाला है ॥

सवरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।
स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥
(अथर्व० १३ । ३ । १३)

सायंकाल वह वरुण और अग्नि होता है, और प्रातःकाल उदय होता हुआ वह मित्र होता है, वह सविता होकर अन्तरिक्ष से चलता है. वह इन्द्र होकर मध्य से द्यौ को तपाता है ॥

स धाता स विधाता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ॥ ३ ॥
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ॥ ४ ॥
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः । ५।(अथ०१३।४)

वह धाता है, वह विधाता है, वह वायु है, वह ऊंचा मेघ है । ३ । वह अर्यमा है, वह वरुण है, वह रुद्र है, वह महादेव है । ४ । वह अग्नि है, वह सूर्य्य है और वह ही महायम है । ५ ।

इस प्रकार अधिष्ठानभेद से नामभेद और धर्मभेद होकर भी उसी एक परम शक्ति का वर्णन है । इसी अधिष्ठान और धर्म के भेद से ही अलग २ देवता के तौर पर उसकी स्तुति की जाती है, और इसी भेद को लेकर प्रार्थना में भेद होता है । हम बल मांगते हुए इन्द्र से मांगते हैं, क्योंकि उस रूप में परमात्मा बल के अधिपति हैं । हम पवित्रता चाहते हुए वरुण से प्रार्थी होते हैं, क्योंकि उस रूप में वह पवित्रता के अर्थपति है । इसका अधिक विस्तार से वर्णन हम वेदोपदेश में दे चुके हैं, वहीं से देख लेना चाहिये ।

मित्र, वरुण आदि शब्दों से परमात्मा की जो २ महिमा प्रकाशित होती है, इसका सविस्तर वर्णन एक अलग ग्रन्थ में होगा । यहां पूर्वसिद्धान्तित अर्थ को ही प्रकट करते हैं । मित्र अर्थात् प्राण और दिन का अधिपति (अर्थात् अध्यात्म में प्राण का और बाह्य में

दिन का अधिपति) वरुण=अपान और रात्रि का अधिपति, अर्यमा= आंख और सूर्य का अधिपति, इन्द्र=बल का अधिपति बृहस्पति= वाणी, और बुद्धि का अधिपति, विष्णु=गति का अधिपति।

इनकी अनुकूलता की प्रार्थना इसलिये है, कि इनके अनुकूल होने से अध्यात्मशक्तियों में स्वास्थ्य, बल और दृढ़ता आती है, जिससे विना विघ्न परा विद्या का अभ्यास होसकता है। विद्या की सफलता इस में है, कि उसके तत्त्व अर्थ को समझें, उसको स्वयं धारण करें, और दूसरों को सिखावें। यह सब अध्यात्मशक्तियों की स्वस्थता में ही होसका है।इस तरह मित्र,वरुण आदि व्यष्टि रूपोंमें ब्रह्म की अनुकूलता मांगकर 'नमोब्रह्मणे' इत्यादि से सूत्रात्मा वायु की वन्दना की है और उससे रक्षा मांगी है। सब कर्मफल सूत्रात्मा के अधीन हैं। इस लिये ब्रह्मविद्या में विघ्नों की शान्ति के लिये उससे प्रार्थना की गई है। यहां ब्रह्म से अभिप्राय अपरब्रह्म सूत्रात्मा से है, जिस में सारा विश्व ओत प्रोत हो रहा है, उसी को आगे वायु शब्द से कहा है। यह सूत्रात्मा सम्पूर्ण विश्व का एक जीवन है, और यह आध्यात्मिक प्राण वायु रूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म है।

जो नियम इस सृष्टि के चलाने वाले हैं, जिनके अधीन इस सारे विश्व का प्रबन्ध है, और जो मनुष्य की भलाई के लिये सदा काम करते रहते हैं, उन नियमों का नाम ऋत है, और वही नियम जब अनुष्ठान (अमल) में आते हैं, तो सत्य कहलाते हैं। ये नियम आध्यात्मिक और आधिदैविक जगत् में दोनों जगह काम करते हैं, इनके अनुकूल आचरण ही सचाई है, धर्म है, सच्चा रस्ता है। जिज्ञासु को चाहिये, कि वह सदा ऋत और सत्य ही बोले और ऐसा जाने कि यही मेरे और मेरे आचार्य के रक्षक हैं॥ "ये ऋत और और सत्य सूत्रात्मा के अधीन हैं, इनका अधिष्ठाता सूत्रात्मा है, इस लिये सूत्रात्मा की महिमा में ये वचन कहे हैं, मैं (तुझ ही को) ऋत कहूंगा, तुझ ही को सत्य कहूंगा। वन्दना और स्तुति के पीछे यह ब्रह्मविद्या का अर्थी यह २ वर मांगता है, कि वह ब्रह्म (सूत्रात्मा)

मुझे विद्या के ग्रहण की शक्ति और आचार्य को उसके कहने की शक्ति देने से हमारी रक्षा करे। (शंकराचार्य) गुरु की और अपनी रक्षा में आदर जितलाने के लिये दुबारा उन्हीं वाक्यों को कहते हुए 'तत्' = वह, शब्द को छोड़ दिया है और 'अवतु' = रक्षा करे, शब्द को पहले कर दिया है ॥

"शान्तिः शान्तिः शान्तिः" तीन बार कहने से यह अभिप्राय है, कि सब कुछ हमारे लिये शान्तिमय हो । हमारी विद्याप्राप्ति में न आध्यात्मिक, न आधिभौतिक और न कोई आधिदैविक विघ्न प्राप्त हो।

दूसरा अनुवाक ॥ २ ॥

ओं शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम् साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः। शीक्षां पञ्च*॥२॥

हम शिक्षा (उच्चारण के नियमों) की व्याख्या करेंगे। वर्ण, स्वर मात्रा, प्रयत्न, साम और सन्धि। यह शिक्षाध्याय कहा गया है†॥२॥

---

*इस अनुवाक में 'शीक्षां' से लेकर पांच वाक्य हैं। जहां दस वाक्य समाप्त होते हैं, वहां दसवां वाक्य पूरा वा अधूरा लिखकर उसके पीछे जितने वाक्य हों, उनकी गिनती दे दी है । जैसे पहले अनुवाक में 'सत्यंवदिष्यामि' दसवां वाक्य है, और उसके पीछे पांच वाक्य और आए हैं, इस लिये वहां 'सत्यं वदिष्यामि पञ्चच' ऐसा लिखा है। और यहां सारे ही पांच वाक्य हैं, इस लिये आरम्भ का एक ही (शीक्षां) पद (न कि सारा वाक्य) लिखकर उसके पीछे 'पञ्च' दिया है॥

† शान्ति पाठ के पीछे अब सबसे पहले पाठ पढ़ने की शिक्षा देते हैं अर्थात् पाठ पढ़ने में किन बातों का ध्यान रखना चाहिये । यह कि (१) वर्ण (अ, आ, आदि अक्षर) ठीक २ उच्चारण हों। स वा श की जगह ष, अथवा श, ष, की जगह स न उच्चारण किया जाय इत्यादि। (२) स्वर = उदात्त आदि. अर्थात् उच्चारण करने में किस अक्षर पर बल देना चाहिये इत्यादि नियम। ऐसा न हो, कि जिस अक्षर पर बल डालना है, उस पर बल न डाला जाए वा किसी दूसरे पर बल डाला जाए। मात्रा = ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। इन मात्राओं

को साफ २ प्रकट करो। दीर्घ और प्लुत को ह्रस्व, और ह्रस्व को दीर्घ वा व्यञ्जन न बना डालो। प्रयत्न, वर्णों की बनावट में बाह्य और आभ्यन्तर जैसा प्रयत्न चाहिये, वैसा करो। साम=स्वर से पढ़ना। मधुर स्वर से पढ़ो। तुम्हारा कण्ठ रूखा फीका न हो। सन्धि; पदों को मिलाकर पढ़ना। पद २ को काट २ कर न पढ़ो॥

तीसरा अनुवाक॥ ३॥

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।

यश हम दोनों (आचार्य और शिष्य) का साथ हो ब्रह्मवर्चस हम दोनों का साथ हो *॥

अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासंहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः (१)। वायुः सन्धानम्। इत्यधिलोकम्। अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः। वैद्युतः सन्धानम्। इत्यधिज्यौतिषम्। अथाधिविद्यम्। आचार्य्यः पूर्वरूपम्। (२) अन्ते

* वेद के पढ़ने और धर्म के पालने से जो यश है, यहां उस यश से अभिप्राय है। और ब्रह्मवर्चस वह तेज है, जो वेद के पढ़ने और उसके अनुकूल आचरण से चेहरे पर चमकता है। इन दोनों फलों के लिये यह प्रार्थना भी शिष्य की ही है। 'शंनोमित्रः' इत्यादि से यह प्रार्थना इस लिये अलग पढ़ी गई है, कि यह केवल इस संहितोपनिषद् के साथ सम्बन्ध रखती है। और उस पहली प्रार्थना का सम्बन्ध सारी शिक्षावल्ली से है।

वास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचन ँ सन्धानम्। इत्याधिविद्यम्। अथाधिप्रजम्॥ माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजासन्धिः। प्रजनन ँ सन्धानम्। इत्यधिप्रजम् (३) अथध्यात्मम्। अधराहनुः पूर्वरूपम्। उत्तराहनुरुत्तररूपम्। वाक् सन्धिः। जिह्वासन्धानम्। इत्यध्यात्मम्। इतीमा महास ँ हिताः। यएव मेता महा स ँ हिता व्याख्याता वेद। सन्धीयते प्रजया-पशुभिः ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन (४)

सन्धिः, आचार्यः पूर्वरूपम्, इत्यधिप्रजं, लोकेन ॥ ३

अब संहिता की उपनिषद् पांच अधिकरणों(महों)में बतलाएंगे। लोकों के सम्बन्ध में,दिव्य ज्योतियों के सम्बन्ध में, विद्या के सम्बन्ध में, सन्तान के सम्बन्ध में और शरीर के सम्बन्ध में। इन (पांचों) को महासंहिता कहते हैं।

पहिली लोकों के सम्बन्ध में है। पृथिवी पूर्व रूप है,द्यौ उत्तर रूप है, आकाश मिलाप (सन्धि) है,वायु मिलानेवाला (सन्धान) है। यह लोकों के सम्बन्ध में है।

अब ज्योतियों के सम्बन्ध में कहते हैं। अग्नि पूर्वरूप है, सूर्य उत्तररूप है, पानी संधि है, और बिजली मिलानेवाली है। यह ज्योतियों के सम्बन्ध में है।

अब विद्या के सम्बन्ध में कहते हैं। आचार्य पूर्वरूप है। शिष्य उत्तररूप है, विद्या सन्धि है, पढ़ाना (प्रवचन) मिलाने वाला है। यह विद्या के सम्बन्ध में है।

अब सन्तानके सम्बन्ध में कहते हैं।माता पूर्वरूप है,पिता उत्तर रूप है, प्रजा उनकी सन्धि है, और उत्पादन का कर्म मिलाने वाला है। यह सन्तान के सम्बन्ध में है।

अब शरीर के सम्बन्ध में कहते हैं। निचला जबड़ा पूर्वरूप है, ऊपर का जबड़ा उत्तररूप है, वाणी सन्धि है, और जिह्वा मिलानेवाली है। यह शरीर के सम्बन्ध में है। सो ये महासंहिता हैं।

जो इस प्रकार इन महासंहिताओं को जानता है, जैसा कि यहां व्याख्या की गई हैं, वह सन्तान से, पशुओं से, ब्रह्म वर्चस से, खुराक से, और स्वर्गलोक से मिलता है (अर्थात् इनको प्राप्त होता है)। ३।

व्याख्या–यह संहिता का ज्ञान जो पांच मदों में बतलाया है, इसको बहुत सोचा विचारा, पर फिर भी इसका असली रहस्य समझ में नहीं आया। उपनिषदों के मर्मज्ञ विद्वान् संन्यासियों से पूछने पर इसका इतना ही प्रयोजन ज्ञात हुआ है, कि यह विशेष उपासना हैं, जो परम्परागत (सीना बसीना चली आती) हैं। पर अब इन का जाननेवाला शायद ही कहीं कोई हो, संस्कृत भाष्यकारों ने केवल इतना ही लिखा है, कि जहां वेद में सन्धि होती है, वहां इन का ध्यान करना चाहिये। जैसे जहां अ और उ मिल कर ओ हुआ है, वहां अ को पृथिवीलोक, उ को द्यौलोक, और इन दोनों के अन्तराल (मध्य देश) को आकाश, और इन के मिलाने से जो ओ हुआ है, उसको वायु ध्यान करना चाहिये, बस इसी तरह दूसरी उपासनाओं को भी ख्याल करें।

चौथा अनुवाक ॥ ४ ॥

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्यो ऽध्यमृतात् संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय । आवहन्ती वितन्वाना (१) कुर्वाणा ऽचीरमात्मनः । वासा ँसि मम गावश्च । अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह । लोमशां पशुभिः सह स्वाहा । आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । दमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । शमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । (२) यशो जने ऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसो ऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा तस्मिन्त्सहस्रशाखे । निभगाऽहं त्वयि मृजे स्वाहा । यथा ऽऽपः प्रवता यन्ति । यथा मासा अहर्जरम् । एवंमां ब्रह्मचारिणः । धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्रमाभाहि प्रमापद्यस्व (३)

वितन्वाना, शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा, धातुरायन्तु सर्वतः स्वाहा' एकश्च ॥ ४ ॥

जो इन्द्र वेदों में श्रेष्ठ है सारे रूपों वाला है वह वेदों से—अमृत से प्रकट हुआ है । वह इन्द्र मुझे मेधा से बलवान् बनाए । हे देव ! मैं अमृत (=वेदार्थज्ञान) का धारने वाला होऊं ॥

मेरा शरीर योग्य हो । मेरी वाणी बड़ी मीठी हो । मैं कानों से बहुत सुनूं (मुझे आचार्य्यों से बहुत कुछ उपदेश मिले) । तू मेधा से ढपा हुआ, ब्रह्म का कोश (मियान) है, मेरे श्रुत (आचार्यों से सुने हुए) की रक्षा कर ॥

तब मुझे वह श्री (खुशी) ला दे, जो पशुओं से रोमों वाली हो, (रोमों वाले पशु मेरे पास हों) और जो हरएक समय मेरे लिये वस्त्र और गौओं को, अन्न और पान को लाने वाली फैलाने वाली और बिना देर के अपना बनाने वाली (खुशी के रूप में बदलने वाली) हो, स्वाहा ! ब्रह्मचारी (वेद के विद्यार्थी) मेरे पास आएं, स्वाहा ! ब्रह्मचारी सब तर्फ से मेरे पास आएं, स्वाहा ! ब्रह्मचारी प्रयत्न से मेरे पास आएं, स्वाहा ! सिधे हुए (अपने आपको वश में रखने वाले) ब्रह्मचारी मेरे पास आएं, स्वाहा ! शान्त ब्रह्मचारी मेरे पास आएं, स्वाहा !

मनुष्यों में मैं यशरूप होजाऊं स्वाहा ! मैं बड़े अमीर से श्रेष्ठ होजाऊं, स्वाहा ! मैं हे भगवन् उस तुझमें प्रविष्ट होऊं, स्वाहा । तू हे भगवन् मुझमें प्रविष्टहो, स्वाहा ! हे भगवन् उस तुझमें जिसकी सहस्रों शाखाएं (शबलरूप) हैं, मैं अपने आपको शोधन करता हूं, स्वाहा ! जैसे जल निचाई की ओर भागते हैं, जैसे महीने बरस में जामिलते हैं, इस प्रकार हे धातः (पैदा करने वाले) ब्रह्मचारी सब ओर से मेरे पास आवें स्वाहा । तू विश्राम का स्थान (जायपनह)

है, मुझे (जगत् में) चमका मुझे अपनी शरण में ले, स्वाहा ! ॥४॥

व्याख्या–ये मन्त्र प्रार्थना और हवन के हैं,उनके लिये जो मेधा और श्री चाहते हैं, जैसाकि कहा है 'वह इन्द्र मुझे मेधा से बलवान् करे' और 'तब मेरे लिये श्री को ला'। गुरु चाहता है कि वह मेधा वाला हो जिससे वह विद्यार्थियों को विद्या देने के योग्य हो, और कि उसके पास बहुतायत से अन्न वस्त्र और गौएं हो, और फिर उस के पास चारों ओर से योग्य विद्यार्थी आवें और वेदों को पढ़ें। यह सारी प्रार्थना (ओम्) परमेश्वर से की गई है। ओम् शबलरूप में सारे रूपों वाला है। वेद अमृत हैं, और ओम् सारे वेदों का सार है, यह ब्रह्म का निज नाम है।

शरीर के आरोग्य होना आदि के विना मेधा भी निष्फल जाती है, इसलिये मेधा के अनन्तर मेरा शरीर आरोग्य हो इत्यादि से शरीर के आरोग्य और पुष्टि की प्रार्थना की है॥

'तू मेधा से ढपा हुआ ब्रह्म का कोश है'=वह मियान; जिसके अन्दर चमकता हुआ ब्रह्म विराजमान है,वह ओम् है, अर्थात् लौकिक बुद्धि से ढपा हुआ है, सामान्य बुद्धि वाले तेरे तत्व को नहीं जानते हैं, (शंकराचार्य्य)।

'तब मुझे वह श्रीलादे·····'मेधा की प्राथना के मन्त्र समाप्त करके ये उसके पीछे श्री की प्राप्ति के लिये होम के मंत्र हैं। स्वाहा के अन्त में आहुति डालनी चाहिये। रोमों वाली से अभिप्राय है कि भेड़ आदि पशु मेरे पास हों, जिनके रोमों से वस्त्र बनते हैं।

संगति–ओंकार की उपासना कहकर अब व्याहृतियों के द्वारा अपरब्रह्म की उपासना स्वाराज्य फल की सिद्धि के लिये बतलाते हैं।

पांचवां अनुवाक ॥ ५ ॥

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामुहस्मैतां चतुर्थीम् । माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । भूरिति वा अयंलोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ-लोकः (१) मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोक महीयन्ते । भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः । सुवरित्यादित्यः । मह इति चन्द्रमाः । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते । भूरिति वा ऋचः । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूंषि (२) । मह इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते । भूरिति वै प्राणः । भुवइत्यपानः । सुवरितिव्यानः । महइत्यन्नम् । अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते । ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः । ता यो वेद । स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति (३) ।

असौ लोको, यजूंषि, वेद, द्वे च ॥ ५ ॥

भू, भुवः, स्वः; ये तीन व्याहृतियें हैं, माहाचमस्य (महाचमस गोत्र वाले ऋषि) ने उनमें एक चौथी (व्याहृति) बतलाई है-

महः'। वह ब्रह्म है। वह आत्मा है। दूसरे देवता इसके अङ्ग हैं*।

भूः यह लोक (पृथ्वी) है, भुवः अन्तरिक्ष है, स्वः वह लोक (द्यौलोक) है, महः सूर्य है। सूर्य से सारे लोक महिमा वाले हैं। भू अग्नि है, भुवः वायु है, स्वः सूर्य है, महः चन्द्रमा है। चन्द्रमा से सब ज्योतियें (नक्षत्र) महिमा वाली होती हैं। भू ऋचाएं हैं, भुवः, साम हैं, स्वः यजु हैं, महः ब्रह्म † है। ब्रह्म से सारे वेद महिमा वाले हैं। भू प्राण है, भुवः अपान है, स्वः व्यान है, महः अन्न है। अन्न से सारे प्राण महिमा वाले हैं। सो ये चार (व्याहृतियें) चार प्रकार की हैं, ‡ चार २ व्याहृतियें हैं, जो इनको जानता है, वह ब्रह्म को जानता है, सारे देवता इसके लिये बलि लाते हैं ॥ ५ ॥

छठा अनुवाक ॥ ६ ॥

स य एषो ऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो

---

* भूः, भुवः, स्वः ये तीन व्याहृतियें प्रसिद्ध हैं, इनमें चौथी महः है, जिसको माहाचमस्य ने पहले पहल देखा है। इन तीनों व्याहृतियों से जो २ शक्तियें अभिप्रेत हैं, उनमें चौथी व्याहृति ब्रह्म की जगह है, जो स्वयं अपनी महिमा रखती हुई दूसरों को महिमा वाली बना देती है, और यह आत्मा इस लिये है, कि दूसरी व्याहृतियें उसका अंग बन जाती हैं, और यह मध्यभाग के तौर पर समझी जाती है। शरीर का मध्य भाग जो धड़ है, वह हाथ आदि अङ्गों की वृद्धि का हेतु है, इस लिये वह इनका आत्मा कहलाता है। इसी प्रकार लोक आदि की महिमा का हेतु होने से आदित्य आदि उनका आत्मा हैं॥

† ब्रह्म यहां ओम् है शब्द के अधिकार में रहने का यही अर्थ सम्भव है।

‡ एक २ व्याहृति जब चार २ प्रकार से उपासना की जाए, तो सोलह कला वाला पुरुष उपासना किया जाता है (आनन्दगिरि).

मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः । अन्तरेण तालुके यः एष स्तन इवावलम्बते । सेन्द्रयोनिः । यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले । भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति । भुव इति वायौ।(१) सुवरित्यादित्ये ।मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्-पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत् ततो भवति । आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीन योग्योपास्स्व (२)

वायौ, अमृतं, एकञ्च.। अनु० ६ ।

यह जो हृदय के अन्दर आकाश है; उसमें यह पुरुष है, जो मनका मालिक अमृत और सुनहरी (ज्योतिर्मय) है* दोनों तालुओं के मध्य में जो यह (मांस का एक टुकड़ा) स्तन सा लटकता है, यह इन्द्र (जीवात्मा) का स्थान है । अब जहां बालों की जड़ अलग २ होती है (मूर्धा में), वहां वह (जीवात्मा) सिरके दोनों कपालों को

---

* यह आत्मा का स्थान और स्वरूप वर्णन किया है । इसके आगे जो, 'दोनों तालुओं के मध्य में 'इत्यादि से मार्ग बतलाया है, यह वह मार्ग है जिससे उपासक का लिंगशरीर मृत्यु के समय बाहर निकलता है, वह मार्ग सुषुम्ना नाडी है, जो तालुओं के मध्य में से होकर मूर्धा तक पहुंची है, वहां वह सिर के दोनों कपालों को खोलकर भूः भुवः स्वः महः की उपासना की वासनाऽनुसार अग्नि, वायु, सूर्य, और ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है ।

खोलकर, भू कहता हुआ अग्नि में प्रविष्ट होता है; भुवः कहता हुआ वायु में प्रविष्ट होता है; स्वः कहता हुआ सूर्य में प्रविष्ट होता है; महः कहता हुआ ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) में प्रविष्ट होता है। वहां वह स्वाराज्य को प्राप्त होता है,वह मन का पति होजाता है। वह वाणी का पति होजाता है, नेत्र का पति, श्रोत्र का पति और विज्ञान का पति होजाता है (मन, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, उसके बस में होते हैं), इससे आगे बढ़कर वह ब्रह्म होता है*, जिसका शरीर आकाश है, जिसका स्वभाव सचाई है। वह इन्द्रियों में रमण करता है, मन में आनन्द वाला,शान्ति में पूर्ण है और अमृत है,इस प्रकार हे प्राचीन योग्य! † तू उसकी उपासना कर।

सातवाँ अनुवाक ॥ ७ ॥

संगति—यज्ञ और उपासनाओं के विषय में जो बाह्य और अध्यात्म शक्तियों का आपस में सम्बन्ध है, उस का वर्णन—

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा।इत्यधिभूतम्। अथाऽध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म मांसँ स्नावास्थि मज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदँ सर्वम्।

---

* अर्थात् मुक्त होता है, मुक्ति में ब्रह्म के सदृश होने से ब्रह्म कहा जाता है।

† यह माहाचमस्य ने अपने शिष्य प्राचीनयोग्यको उपदेश किया है।

पाङ्क्तेनैव पाङ्क्त ᳪ स्पृणोतीति (१)

सर्वम्, एकं च। अनु० ७।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशाएं और अवान्तर दिशाएं * । अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र † जल, ओषधियें, वनस्पति, आकाश, और आत्मा (विश्वात्मा, विराट्) ‡ यह सब वाह्य भूतों के साथ सम्बन्ध रखता है। अब जो शरीर के साथ सम्बन्ध रखते हैं उनको बतलाते हैं, प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान, §—नेत्र, श्रोत्र, मन, वाणी, त्वचा, ‖—चर्म, मांस, नाडी, हड्डी, और चर्बी, ¶ यह सब पाङ्क्त (लोक, देवता, भूत; प्राण, इन्द्रिय, और धातुओं की पांच २ की पङ्क्ति) कह कर ऋषि ने बतलाया है, जो कुछ यह है, यह सब पाङ्क्त है (पांच २ का समूह है)।

पाङ्क्त के द्वाराही वह दूसरे पाङ्क्त को बलवान् बना देता है** (जो उपासना से बाह्य और अध्यात्म पाङ्क्त को एक बना लेता है)

संगति—ओंकार परापर ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है, इस हेतु से वह सारे वैदिक कर्मों और सारी उपासनाओं का अंग माना गया है, यह दिखलाते हैं—

---

* यह लोक पाङ्क्त (पांच का समूह) है: † यह देवता पाङ्क्त है ‡ यह भूत पाङ्क्त है। यह तीनों पाङ्क्त बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध रखते हैं: § यह प्राण पाङ्क्त है ‖ यह इन्द्रिय पाङ्क्त ¶ यह शरीर के धातुओं का पाङ्क्त है । यह तीनों पाङ्क्त शरीर के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

** अध्यात्म पाङ्क्त से बाह्य पाङ्क्त को, और बाह्य पाङ्क्त से अध्यात्म पाङ्क्त को बलवान् बनाता है।

आठवां अनुवाक ॥ ८

ओमिति ब्रह्म । ओमितीद ꣳ सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओ ꣳ शोमिति शस्त्राणि श ꣳ सन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति ब्रह्मैवोपाप्नोति (१) ओं दश । अनु० ८ ।

१.–ओम् यह ब्रह्म है (ब्रह्म का वाचक है), २–ओम् यह सब कुछ है (समष्टि व्यष्टि रूप शबल ब्रह्म का वाचक है,). ३–ओम्, यह आज्ञा मानना है (जा, पढ़ इत्यादि कहने पर छोटे उस आज्ञा को अंगीकार करते हुए 'ओम्' कहते हैं, अर्थात् ओम् अंगीकार का वाचक है ;) (न केवल लौकिक व्यवहार का ही ओम कारण है; किन्तु वैदिक और व्यवहारों में भी कारण है यह बतलाते हैं) ४–किञ्च–ओ(ओम)सुना (मन्त्र सुना) ऐसा कहने पर (ऋत्विज मंत्रों को) सुनाते हैं ५–ओम् कहकर साम गाते हैं; ६–ओं शों (शम्+ओम्=शोम=सुख रूप ओम) कहकर शस्त्रों (ऋग्वेद के मन्त्रविशेषों) को पढ़ते हैं; ७–ओम् कहकर (सोमयज्ञ में)यजुर्वेद प्रतिगर,प्रोत्साहक मन्त्र विशेष)पढ़ता है, ८–ओम् कहकर ब्रह्मा (कर्म करने की) अनुज्ञा देता है, ९–ओम् कहकर अग्निहोत्र की अनुज्ञा देता है १०–जब कोई ब्राह्मण वेद का प्रवचन करना

(पढ़ाना वा व्याख्यान करना) चाहता है; तो वह ओम् कहता है, इस अभिप्राय से, कि मैं ब्रह्म (वेद) को प्राप्त होऊं, और इस प्रकार वह ब्रह्म को अवश्य पालता है ॥ ८ ॥

नवां अनुवादक ॥ ९ ॥

संगति--वेद के विचार प्रचार से और वैदिक जीवन के धारने से जन्म सफल होता है, वह दिखलाते हैं-

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्याय-प्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः (१)

प्रजाच स्वाध्याय प्रवचनेच, पञ्च । अनु० ६ ।

*ऋत,और स्वाध्याय और प्रवचन (वेद का विचार और प्रचार)

---

* यह अनुवाक इस बात के प्रकट करने के लिये है, कि केवल वेदों का पढ़ना ही मनुष्य का परम उद्देश्य नहीं, किन्तु वैदिक जीवन जिसका यहां ऋत आदि शब्दों से वर्णन है, वह उसका उद्देश्य है,

सत्य,और स्वाध्याय और प्रवचन। तप,और स्वाध्याय और प्रवचन। मन को शान्त रखना और स्वाध्याय और प्रवचन। इन्द्रियोंका दमन करना और स्वाध्याय और प्रवचन। अग्नियें (स्थापन करना) और स्वाध्याय और प्रवचन। अग्निहोत्र और स्वाध्याय और प्रवचन। अतिथि (अतिथियों की सेवा करना) और स्वाध्याय और प्रवचन। मानुष (लौकिक व्यवहार) और स्वाध्याय और प्रवचन। सन्तान (का पालन पोषण) और स्वाध्याय और प्रवचन (सन्तान का उत्पादन करना) और स्वाध्याय और प्रवचन। पुत्र पोतों से फैलाव और स्वाध्याय और प्रवचन।

सत्यवचा रथीतर गोत्री मानता है, कि सचाई ही आवश्यक है। पुरुशिष्ट का पुत्र तपोनित्य मानता है, कि तप केवल आवश्यक है†। मुद्गल का पुत्र नाक मानता है, कि स्वाध्याय और प्रवचन ही आवश्यक हैं,क्योंकि वह ही तप है,वह ही तप है‡(२)॥९

दसवां अनुवाक १० ॥

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वे

---

*साथ ही वेद का स्वयं विचार करना और विचारे हुए को दूसरों तक पहुंचाना ये दोनों काम व्रत के तौर पर सदा प्रवृत्त रहने चाहियें, इसी लिये प्रत्येक कर्म के साथ वेद का पढ़ना पढ़ाना कहा है। ऋत और सत्य के अर्थ पहले अनुवाक में लिख आए हैं।

† सत्यवचा, नाम है, अथवा सत्यवादी। तपोनित्य नाम है अथवा तप में तत्पर।

‡ स्वाध्याय और प्रवचन के तुल्य कोई तप नहीं है। इसलिये यह ही अनुष्ठेय है॥

पवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविण ँ सुवर्चस म् । सुमेधा अमृतोक्षितः । इति त्रिशंकोर्वेदानुवचनम् (१)।

अहं पद अनु० १० ।

मैं (संसार रूपी) वृक्ष को हिलाने वाला हूं । मेरी कीर्ति पर्वत के शिखर की नाईं है ॥ मैं वह हूं जिस (के ज्ञान) का पवित्र (प्रकाश) ऊंचा उदय हुआ है * मानों सूर्य में है। मैं वह हूं जो असली अमृत है† । मैं चमकता हुआ धन (खज़ाना) हूं । मैं सुमेधा हूं, अमृत हूं, क्षीण न होने वाला ‡ । यह त्रिशङ्कु का वेदोपदेश है, (यह वेद की शिक्षा त्रिशङ्कु से दी गई है) ॥१०॥

व्याख्या--पूर्वोक्त वेदविचार प्रचार और वैदिक जीवन के धारण से हृदय की शुद्धि होकर त्रिशङ्कु ऋषि को यह आर्षज्ञान विना

---

* ऊर्ध्व = कारण, पवित्र = पावन ब्रह्म, जिसका कारण पावन ब्रह्म है वह मैं हूं । शोभन अमृत = शुद्ध आत्मतत्व, अथवा अमृत से सेचन किया हुआ (शंकराचार्य)

† यह मन्त्र जप के लिये है, क्योंकि यह कर्म के प्रसङ्ग में आया है । मुमुक्षु को चाहिये, कि शुद्ध पवित्र और एकाग्र होकर इसका जप करे, इस से उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे ब्रह्मकाज्ञान होगा । किञ्चपूर्व जो श्रौत और स्मार्त कर्म कहे हैं उनको ईश्वरार्पण-बुद्धि से करने वाले की बुद्धि शुद्ध हो कर विना उपदेश के ही इस प्रकार आर्षज्ञान उत्पन्न होता है, इस लिये मुमुक्षु को ईश्वरार्पण बुद्धि से इन कर्मों में तत्पर होना चाहिये, (सुरेश्वराचार्य)

उपदेश के प्रकट हुआ। आत्मज्ञान के उदय से कृतकृत्य होकर ऋषि ने अपनी कृतकृत्यता को इस में गाया है। अब भी जो कोई पूर्वोक्त धर्मों और स्वाध्याय और प्रवचन का नियम से पालन करेगा, वह इसी प्रकार शुद्ध हृदय में आत्मा के दर्शन करके कृतकृत्य होजाएगा॥

ग्यारहवां अनुवाक॥ ११॥

संगति—वेदाध्ययन के पीछे जिस प्रकार लोक में रहना चाहिये, उसके लिये आचार्य अपने शिष्य को शिक्षा देता है, जब वह विद्या पढ़कर घर वापिस होने को है—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिन मनुशास्ति। सत्यंवद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदित्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमादितव्यम् (१) देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि (२)। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषांत्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धयादेयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया

देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् (३)। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् (४)

स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्, तानि त्वयोपास्यानि, स्यात्, तेषु वर्तेरन्, सप्त च । अनु ०११ ॥

वेद पढ़ा कर आचार्य शिष्य को अनुशासन करता है—सत्य बोलो ! धर्म का आचरण करो ! स्वाध्याय में प्रमाद न करो (नित्य के स्वाध्याय को कभी मत भूलो) ! आचार्य के लिये प्यारा धन लाकर (विद्यादान के योग्य दक्षिणा देकर) सन्तान के तागे (सिलसिले) को मत काटो (गृहस्थ में प्रवेश करके सन्तान के उस सिलसिले को जो पूर्वजों से चला आरहा है, प्रदृत्त रक्खो) ! सचाई से कभी प्रमाद न करना * ! धर्म से कभी प्रमाद न करना ! कुशल (जो कुछ उपयोगी

---

* भूल कर भी कभी तनिक भी झूठ न बोलना इत्यादि बल देने के लिये फिर दुबारा सत्य आदि का ग्रहण किया है ।

है उस) से कभी प्रमाद न करना । ऐश्वर्य्य के (बढ़ाने के) लिये कभी प्रमाद न करना । स्वाध्याय * और प्रवचन से कभी प्रमाद न करना । देवकार्य और पितृकार्य (तुह्मारा जो कर्तव्य देवताओं की ओर है, और जो पितरों की ओर है,उस) से प्रमाद न करना। माता को देवता की नाईं मानो † पिता को देवता की नाईं मानो । आचार्य को देवता की नाईं जानो । अतिथि को देवता की नाईं जानों । जो कर्म निर्दोष हैं,उनका सदा अनुष्ठान करो। दूसरे नहीं। (अपने स्थान पर आए) जो कोई हम से उत्तम ब्राह्मण हैं, उन को आसन देने से आराम दो ! (जो कुछ दो) श्रद्धा से दो ! अश्रद्धा से मत दो‡ ! खुशी से दो ! विनीतभाव से दो ! भय से दो। प्रेमभाव से दो ! और यदि तुझे किसी धर्मकार्य में संदेह हो, वा

---

* यद्यपि 'स्वाध्यायान्माप्रमदः' इसी से स्वाध्याय में प्रमादराहित होने के लिये बल दिया है, तथापि सब कर्तव्यों से स्वाध्याय में बढ़कर प्रयत्न करना चाहिये, इस प्रयोजन के लिये फिर स्वाध्याय कहा है।

† अक्षरार्थ यह है-माता [रूपी] देवता वाले बनो । अर्थात् माता पिता, आचार्य और अतिथि तुम्हारे लिये देवता के तुल्य हों,तुमप्रातःकाल उठ कर जब अपने माता पिता का दर्शन करते हो, तो जानो कि अपने देवता का दर्शन किया है, तुम्हारे माता पिता चिरस्थायी हों इस के लिये कृतज्ञ होकर सदा प्रार्थी रहो । 'मानो वधीः पितरं मोत मातरम्' (ऋग्वेद) । क्योंकि जब तक वे जीते हैं, तुम्हारे घर में तुम्हारे पूज्य देवता हैं । इसी प्रकार आचार्य और अतिथि जब तुह्मारे घर आते हैं, तो तुह्मारे घर देवता पधारते हैं । मन वाणी और कर्म से उन की सेवा करो, कभी किसी प्रमाद से भी उन का अनिष्ट न करो ।

‡ श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से दो (विद्यारण्य और राघवेन्द्रयति)

किसी वृत्त (आचार व्यवहार) में संदेह हो, तो जो ब्राह्मण वहां यथार्थ निर्णय करने वाले हैं, चाहे वे (राजा आदि की ओर से उस काम पर) नियुक्त हों, और चाहें अनियुक्त (स्वतन्त्र) हों, रूखे न हों (प्रेम से वर्तने वाले हों) और धर्म से प्यार करने वाले हों (अर्थ और काम में आसक्त न हों , जैसे वे (ब्राह्मण) उस (विषय) में वर्तें, वैसे तू उनमें वर्त। और जो अभिशस्त (जिनपर संदिग्ध दोष लगाया गया है) हैं, उनके विषयमें भी जो वहां ब्राह्मण यथार्थ निर्णय करने वाले नियुक्त वा अनियुक्त हों, रूखे न हों और धर्म से प्यार करने वाले हों, जैसे वे उनके विषय में वर्तें, वैसे तू उनमें वर्त। यह आदेश (तुम्हारे लिये विधि) है। यह (हमारा)उपदेश है।यह वेद की उपनिषद (रहस्य, गुह्यतात्पर्य, परमतात्पर्य) है। यह अनुशासन (शिक्षा)है। इस प्रकार तुम्हें सदा अनुष्ठान करना चाहिये। ठीक इसी प्रकार यह सदा अनुष्ठान के योग्य है॥ ११॥

बारहवां अनुवाक (समाप्ति का शान्तिपाठ)

शं नो मित्रः।शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा॥शंन इन्द्रो बृहस्पतिः। शंनो विष्णुरुरुक्रमः नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ (१)

सत्यमवादिषं पञ्चच॥ १२॥

शंनः, शीक्षां, सहनौ, यश्छन्दसाम्, भूः, सयः पृथ्वी, ओ-

पिति, ऋतंच, अहम्, वेदमनूच्य, शंनः, (द्वादश *)

शन्नः, मह इत्यादित्यः, नो इतराणि, त्रयोविंशतिः †

---

* शिक्षावल्ली में अनुवाक बारह हैं। यह उन बारह अनुवाकों की आदि की बारह प्रतीकें हैं। और उनकी संख्या बतलाने के लिये अन्त में द्वादश कहा है। इस वल्ली में जो आदि और अन्त में शान्तिपाठ पढ़ा है,उनको भी एक स्वतन्त्र अनुवाक के तौर पर गिना गया है। तैत्तिरीयारण्यक में यहां ही शान्तिमन्त्रों को अनुवाकों में गिना है, और कहीं नहीं।

† ये दहाओं के दहाके दिये गए हैं। 'शन्नोमित्रः' से पहला दहाका आरम्भ होता है 'मह इत्यादित्यः' (अनुवाक ५ दहाका २) से दूसरा। और 'नोइतराणि' (११।३) से तीसरा दहाका आरम्भ होता है, 'नो इतराणि' से लेकर पूरे दस दहाके नहीं हुए, किन्तु तीनहीं हैं। इस लिये बीस पहले और तीन ये मिलकर २३ (त्रयोविंशति) दहाके इस प्रपाठक (शिक्षावल्ली) में हैं।

ये प्रतीकें जो अनुवाकों की समाप्ति में ग्रन्थ की रक्षा के लिये कई प्रकार से दीगई हैं। पुराने आचार्यों ने इनके विषय में कुछ लिखा नहीं। पर नए आचार्य जो स्वयं न समझ कर भी दूसरों को समझाने के लिये तय्यार रहते हैं। उन्हों ने जो इनके अर्थ किये हैं। बस सारी विद्या यहां समाप्त करदी है। वे इनको भी उपनिषद् का हिस्सा समझ कर इनका अर्थ ढूंढते हैं। जब अर्थ में कोई संगति नहीं लगती। तो कुछ अपने पास से डालते हैं, कुछ उसको खींचते हैं। किसी की जगह बदलते हैं,किसी को छोड़ देते हैं,यह सब करके कुछ बेहतरसा अर्थ निकाल लेते हैं। यही चाल उनकी बाकी उपनिषद् के अर्थ मेंभी है। हम सविनय कहते हैं, कि हमने अपने पाठकों को ऐसी भ्रान्तियों से सर्वथा बचाया है। यथार्थ बात ढूंढने में हम पूरा परिश्रम उठाते हैं, तिस पर जो हमारी समझ से ऊपर रहे, उसके विषय में अपना अज्ञान मानना ही हम उचित समझते हैं॥

ब्रह्मवल्ली (आनन्दवल्ली)

* सहनाववतु । सहनौभुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। माविद्विषावहै ओं शान्तिः !
शान्तिः !! शान्तिः !!!

(ब्रह्म) हम दोनों (शिष्य और आचार्य) की रक्षा करें। वह हम दोनों को पाले (भुगाए) हम मिल कर बल बनाएं, हमारा पढ़ा हुआ चमकने वाला हो । हम कभी द्वेष न करें ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ओं ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान्। सह ब्रह्मणा विपश्चितेति'। तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥

---

* स्वामि शंकराचार्य ने यहां उस शान्तिपाठ को भी इससे पहले पढ़ना लिखा है, जो शिक्षावल्ली के आरम्भ में है । पर दूसरे व्याख्याकारों ने यहां 'सहनाववतु, 'कोही शान्तिपाठ में पढ़ा है, और तैत्तिरीय आरण्यक में भी इतनाही शान्तिपाठ है ।

ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को पालेता है *। इस पर यह ऋचा कही गई है—

'वह जो उस ब्रह्म को जानता है, जो सत्य (सदा एक रस वर्त्तमान) ज्ञान (चेतन) और अनन्त है, और (हृदय की) गुफा के अन्दर परम आकाश (हृदयाकाश) में छिपा हुआ है, वह उस सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ मिल कर सारी कामनाओं को भोगता है।

उस आत्मा (सर्वान्तरात्मा ब्रह्म) से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी।

पृथिवी से ओषधियें। ओषधियों से अन्न। अन्न से वीर्य। वीर्य से पुरुष † इस प्रकार यह पुरुष (स्थूल शरीर) अन्नरसमय है, (अन्न के सार का बना हुआ है)। उस (अन्नरसमय) का यही सिर है। यह (दाईं भुजा) दायां पक्ष है। यह (बाईंभुजा)

---

* आगे जो ब्रह्मविद्या विस्तार से कहनी है, उस सारी का यह वाक्य मूल सूत्र है, अगले मन्त्र में इसका संक्षिप्त आशय कहा है, और फिर आगे सारी उपनिषद इसका विस्तार है।

† यद्यपि पुरुष की नाईं अन्य प्राणधारी भी इसी क्रम से उत्पन्न होते हैं, तथापि यहां यतः ब्रह्म विद्या का वर्णन है, जिसका अधिकारी पुरुषही है, इसी लिये पुरुष के अन्दर आगे पांचों कोशों का निरूपण करना है, इस लिये यहां केवल पुरुष की उत्पत्ति दिखलाई है। पुरुष की उत्पत्ति दिखला कर 'सवा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादि से उसके शरीर में पांचों कोश दिखलाए हैं, जिनमें से पहला अन्नमय कोश है, जो स्थूल देहरूप है। हरएक कोष को पक्षी रूप में वर्णन करने के लिये उसके पांच २ अंग बतलाए हैं। सिर, दायां पक्ष, बायां पक्ष, धड़ और पुच्छ। पक्षों से अभिप्राय पंख और पुच्छ से अभिप्राय टांगों से है, इसी लिये पुच्छ के साथ प्रतिष्ठा शब्द कहा है। प्रतिष्ठा, सहारा।

वामांपक्ष है । यह (देह का मध्य भाग) आत्मा (धड़) है । यह (नाभि से नीचे का अंग) पुच्छ है जो सहारा है । इस पर यह श्लोक है ॥ १ ॥

व्याख्या—वेद्का पढ़नापढ़ाना,नेक चाल चलन और वैदिक कर्मों का अनुष्ठान, ये हृदय को शुद्ध बनाते हैं, इस लिये इनको पहले वर्णन किया है । क्योंकि शुद्ध हृदय में ही शुभ्रज्योति परब्रह्म के दर्शन होसक्ते हैं, इसलिये इनको कहकर अब ब्रह्मविद्या का आरम्भ करते हैं ।'ब्रह्म वेत्ता पर ब्रह्म को पालेता है'यह वचन ब्रह्मविद्या का मूलसूत्र है । ब्रह्म का पालेना ही मोक्ष है । ब्रह्म को पाने के लिये कहीं चलकर जाना नहीं है । अनन्त (= व्यापक) ब्रह्म तुम्हें

बैठने उड़ने में टांगें पक्षी का आधार होती हैं । पक्षी की पुच्छ से पशुओं की नाईं नीचे लटकती हुई टांगों से अभिप्राय है । यहां पहले अन्नमय कोश में यह अंग इस तरह दिखलाए हैं । यह सारा शरीर एक पक्षी है, इस पक्षी का सिर यही है, जो सिर है, दाईं भुजा दायां पंख है, बाईं भुजा बायां पंख है । यह धड़ ही पक्षी का धड़ है, और टांगें पुच्छ हैं, जो इस पक्षी के देह का आधार हैं, जिन पर यह खड़ा है । अगले चारों कोशों में जो अंग दिखलाए हैं, वह कल्पना किये गए हैं, प्राणमय कोश में प्राण को सिर कहा है । प्राण कोई सिर नहीं, उसको सिर की जगह कल्पना कर लिया है । पर यहां अन्नमय कोश में ये अंग सारे असली पाए जाते हैं, इस लिए यहां उस अंग का नाम न लेकर यह २ शब्द कहते गए हैं, यही सिर है, यह दायां पंख है, इत्यादि । यह अर्थात् प्रसिद्ध । यह जो प्रसिद्ध सिर है, यही सिर है. अर्थात् यहां प्राणमयादि की नाईं कल्पित सिर नहीं ।

सदा प्राप्त हैं, वह तुम्हारे हृदय में रहते हैं, उनके दर्शन ही उनकी प्राप्ति है। तुम उनको भूले हुए हो, यही उन से जुदाई है, इसी भूल को दूर करना उनको पाना है। उनके दर्शन पाने के लिये अपने ज्ञान की ज्योति को बाहर से समेट कर अन्दर वापिस करो। और इस ज्ञान के दीपक को हृदय की गुफा (अपने रहने के मन्दिर) में जलाओ। वह इस गुफा के अन्धेरे में छिपे हुए हैं, यहां ही दीपक जलाओ। जहां तुम स्वयं रहते हो, उस मन्दिर को तो घुप अन्धेरे में रखकर सारा प्रकाश तुम बाहर भेज रहे हो, इस लिये वह तुम्हें दीखते नहीं, अब उस प्रकाश को यहां फैलने दो, देखो अन्धेरा दूर होते ही इसी गुफा के अन्दर जो निर्मल आकाश है, उस आकाश में परिपूर्ण वह 'सत्यं ज्ञान मनन्तं' ब्रह्म तुम्हारे सन्मुख प्रकट हो जाएंगे। तब तुम्हारे वर मांगने का वेला आएगा क्योंकि तुमने अपने अधिपति के दर्शन किये हैं, जो कुछ चाहो मांग सकते हो, पर क्या अब मांगने की कोई आवश्यकता रह गई है नहीं ! नहीं !! कुछ नहीं !!! यहां तो पहुंचने की ही देरी थी, कि सारी की सारी कामनाएं एकदम पूर्ण होगईं 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' (प्रश्न) ब्रह्म जब सारे परिपूर्ण हैं तो फिर उनकी उपलब्धि हृदयाकाश में ही क्यों होती है ? इसका उत्तर यह है, निःसंदेह ! वह सर्वत्र परिपूर्ण हैं, और सर्वत्र ही उनकी उपलब्धि होती है। सारा विश्व उन्हीं की महिमा गा रहा है, और उन्हीं के दर्शन करा रहा है, वह इस सारे विश्व में आनन्द और अमृतस्वरूप से चमक रहे हैं। तथापि बाह्य जगत् उनके जिस रूप को हमारे सामने रखता है, वह उनका निखरा हुआ स्वरूप नहीं।

वह दर्शन उनके इस भान्ति के हैं, जैसे एक तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी ऋषि को देख कर उसके अन्दर वास करते हुए एक जाज्वल्यमान आत्मा का ध्यान होता है, जिसकी महिमा उसके चेहरे से प्रकाशित होरही है। ब्रह्म के दर्शन भी बाह्य जगत् में इसी प्रकार होते हैं। पर जब हम उनके स्वस्वरूप के दर्शन चाहते हैं, तो हमें वहां प्रवेश करना होगा, जहां वह सारे तत्वों से निखरे हुए होकर विराजते हैं, वह स्थान हृदय है। हृदय के परम आकाश में उनका शुद्ध स्वरूप है। बाह्य जगत् में इन्द्रियों से उन की महिमा देखी जाती थी, पर यहां इन्द्रियों की पहुंच नहीं है। यहां उनका दिखलाने वाला भी आत्मा है, और देखने वाला भी आत्मा है, 'यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वेता०उप०२। १५)=जब योगयुक्त होकर आत्मतत्व से ब्रह्मतत्व को देखे, जो अज ध्रुव (कूटस्थ) और सारे तत्त्वों से विशुद्ध (निखरा हुआ) है, तब इस देव को जानते ही सारी फांसों से छूट जाता है'। ऐसी उपलब्धि केवल हृदयाकाश में ही होती है; इस लिये कहा है—'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'

अब, वही सारी सृष्टि को रचकर उसमें अन्तरात्मा होकर प्रविष्ट है, उसके शुद्ध स्वरूप के दर्शन करने के लिये जिन २ परदों को उठा २ कर उस २ के अन्दर घुसते हुए जहां पहुंच कर उनके साक्षात् दर्शन होते हैं, उस क्रम को वर्णन करने के लिये पहले सृष्टिक्रम का और फिर पांच कोशों का वर्णन करते हैं *।

* 'तस्माद्वा' से लेकर 'अन्नात् पुरुषः' तक सृष्टिक्रम का वर्णन है और 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' से लेकर कोशों का वर्णन है।

दूसरा अनुवाक ॥ २ ॥

'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवीꣳ श्रिताः । अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपियन्त्यन्ततः । अन्न ꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात् सर्वौषधमुच्यते' ।

सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति । येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्न ꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात् सर्वौषधमुच्यते । अन्नाद् भूतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते । अद्यते ऽत्ति च भूतानि । तस्मादन्नं तदुच्यत इति ।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्राण एव शिरः । व्यानो दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति । २ ।

* अन्न से वह सारी प्रजाएं उत्पन्न होती हैं, जो पृथिवी पर रहती हैं । तब वह अन्न से ही जीती हैं, और फिर अन्त में अन्न में ही लीन होती हैं । क्योंकि अन्न सब भूतों (जन्तुओं) का बड़ा

---

* अन्न कई जगह पर असंकुचित अर्थ अर्थात् विराट् (मैटर) के अभिप्राय में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा ही यहां भी है । विराट् से सारी प्रजाएं उत्पन्न होती हैं । उसी से बढ़ती और उसी में लीन होती हैं ।

है, इस लिये वह सर्वौषध कहलाता है। *
वे जो अन्न को ब्रह्म (के तौर पर) उपासते हैं †, वे समस्त (हर एक) अन्न को प्राप्त होते हैं। क्योंकि अन्न सब भूतों का बड़ा है, इसलिये सर्वौषध कहलाता है। अन्न से सारे जन्तु उत्पन्न होते हैं, जब उत्पन्न होजाते हैं, तो अन्न से बढ़ते हैं, क्योंकि यह खाया जाता है (भूतों से) और कि सारे भूतों को खाजाता है, इस लिये वह अन्न कहलाता है ‡।

§ यह जो अन्नरस का बना (शरीर) है, इससे भिन्न एक और अन्तर आत्मा है , जो प्राणमय (प्राण रूप) है। उस (प्राणमय) से यह (अन्नरसमय) पूर्ण होरहा है (जैसे वायु से मशक)

---

* अन्न न मिले, तो जाठराग्नि धातुओं को जलाने लगता है। अन्न उस दाह का शान्त करने वाला है, इस लिये औषध है । और सबके लिये औषध है, इस लिये सर्वौषध है । अन्न से अभिप्राय अनाज नहीं, किन्तु खुराक है, जिसके लिये जो खुराक है, वही उसका अन्न है।

† उपासना से अभिप्राय यह ज्ञान है, कि सारे जन्तु अन्न से उत्पन्न होते, अन्न से जीते, और अन्न में लीन होते हैं, इस लिये (उत्पत्ति, वृद्धि और लय का हेतु होने से) अन्न ब्रह्म है।

‡ यहां तक अन्नमय कोश समाप्त हुआ।

§ अन्नमय कोश के अन्दर प्रवेश कराने के लिये उससे विलक्षण उसके अन्दर एक और कोश बतलाते हैं। जिस तरह छिलके हटाकर उसके अन्दर से चावल अलग किया जाता है, इस तरह सारे परदे हटाकर अन्दर ब्रह्म के दर्शन मिलते हैं। इस लिये क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्म कोशों में प्रवेश कराते हैं।

सो यह (प्राणमय) भी पुरुषाकार * ही है। उस (अन्नरसमय) की पुरुषाकारता के सदृश यह पुरुषाकार है। प्राण ही उसका सिर है। व्यान दायां पक्ष हैं। अपान बायां पक्ष है। आकाश धड़ है। पृथिवी † पुच्छ है, सहारा है। इस पर (प्राण मय के विषय में) यह श्लोक हैं।

तीसरा अनुवाक ॥ ३ ॥

'प्राणं देवा अनुप्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये।
प्राणो हि भूतानमायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते ॥
सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते।
प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुष मुच्यत इति।
तस्यैष एव शरीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुष विधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति

---

* यहां पुरुषाकार कहने से यह संभावित है, कि कोश पुरुषविध ही वर्णन किये हैं। सिर, दांई, बांई भुजा, धड़ और टांगे यह पांच अंग हैं।

† प्राणों के विषय में आकाश और पृथिवी यथाकथञ्चित् समान और उदान के अभिप्राय से लेने चाहिये। अथवा जो मुख्य अर्थ है, वही ठीक है (शंकरानन्द)।

देवता प्राण के सहारे सांस लेते हैं,और जो मनुष्य और पशु हैं वे भी (प्राण के सहारे सांस लेते हैं,) प्राण सारे जन्तुओं का आयु है, इस लिये सर्वायुष (सबका आयु) कहलाता है।

वे जो प्राण ब्रह्म को उपासते हैं, पूरी आयु को प्राप्त होते हैं। क्योंकि प्राण सब जन्तुओं का आयु है, इस लिये सर्वायुष कहलाता है। उसका यही शरीर आत्मा है, जो पहिले (अन्नमय) का है *।

---

* हम नहीं जानते, हमारे शरीर में क्या प्रबन्ध हो रहा है। भूख लगती है, खालेते हैं। अब अन्दर जाकर क्या कुछ बन रहा है, हमें कुछ पता नहीं। बन रहा है, सब कुछ हमारे लिये, हमारे जीवन की रक्षा और वृद्धि के लिये, पर हम कुछ नहीं जानते। अन्दर जो कारखाना है, जिसकी हर एक कला अपना २ काम किये जारही है। उस कारखाने का प्रबन्ध हमारे हाथ नहीं, हम तो उसके विषय में कुछ जानते ही नहीं। यह प्रबन्ध उसी के हाथ में है, जिसके हाथ में इस सारे विश्व का प्रबन्ध है। जो उस सूर्य का अन्तरात्मा होकर उस को नियम में चला रहा है, वही हमारे इस देह का अन्तरात्मा होकर इसको अपने नियमों में स्थिर किये हुए है। वह ब्रह्म जो उस सूर्य का अन्तरात्मा है, वही इस अन्नमय कोश का अन्तरात्मा है, और इस अन्नमय कोश के अन्दर जो प्राणमय कोश है, उसका भी वही आत्मा है। जैसा अन्नमय उसका शरीर है और वह इसका शारीर आत्मा है, इसी प्रकार प्राणमय कोश भी उसका शरीर है, और वह इसका शारीर आत्मा है। इस आशय से कहा है, इसका यही शरीर आत्मा है, जो पहले का है। और इसी शबल रूप को लेकर 'ये अन्नं ब्रह्मोपासते' 'ये प्राणं ब्रह्मोपासते' इत्यादि कहा है। स्वामिशंकराचार्य जो इसका यह अर्थ करते हैं, कि उस पहले का यह शरीर आत्मा है, जो यह प्राणमय है। और इसी प्रकार आगे भी अर्थ किया है। इस अर्थ में अक्षरों का स्वारस्य नहीं है। और सुरेश्वराचार्य ने इसी

यह जो प्राणमय है, इससे भिन्न, एक और, अन्तर आत्मा मनोमय है । उस (मनोमय) से यह (प्राणमय) पूर्ण हो रहा है । यह भी पुरुषाकार है । उस (प्राणमय) की पुरुषाकारता के सदृश यह पुरुषाकार है । यजु ही उसका शिर है । ऋचा उसका दायां पक्ष है । साम बायां पक्ष है । आदेश (विधि) धड़ है । अथर्वाङ्गिरस्* पुच्छ है सहारा है । इस पर (मनोमय के विषय में) भी यह श्लोक है ॥ ३ ॥

व्याख्या—यह नहीं जानना चाहिये, कि अन्न-मय कोश ही सब का जीवन है, किन्तु इसके अन्दर एक और प्राणमय कोश है, जिससे सारे प्राणधारी जीवन लाभ करते हैं । जब तक शरीर में प्राण वास करता है; तब तक जीवन है ॥

चौथा अनुवाक ॥ ४ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति । तस्यैष एव शरीर आत्मा । यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात् । अन्योऽन्तरआत्मा विज्ञानमयः ।

अस्वारस्य को देख कर उस अर्थ में अरुचि प्रकट की है और यह अर्थ ठीक माना है ।

* अथर्वाङ्गिरस्, वे मन्त्र जिनके द्रष्टा अथर्वाङ्गिरस हैं अर्थात् अथर्ववेद के मन्त्र । यजु ३६ । ९ में और छान्दोग्य ५ । ३६ में वेदों की स्थिति मन में बतलाई है, और यहां भी मनोमय कोश के साथ वेदों का सम्बन्ध दिया है । इससे स्वामि शंकराचार्य यह आशय लेते हैं, कि वेद ज्ञानमय हैं, न कि शब्दमय ।

तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुष-विधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥४॥

'वह जो ब्रह्म के उस आनन्द को जानता है, जहां से समस्त वाणियें मन समेत विन पहुंचे लौटती हैं, * ब्रह्म के उस आनन्द को जानता हुआ वह सर्वथा अभय होजाता है'। उसका (मनोमय का) शारीर आत्मा वही है, जो पहले का है।

इस मनोमय से भिन्न, और अन्तर आत्मा है विज्ञानमय। उस (विज्ञानमय) से यह (मनोमय) पूर्ण होरहा है। यह भी पुरुषाकार है, उसकी पुरुषाकारता के सदृश यह पुरुषाकार है। श्रद्धा ही उस का सिर है। ऋत दायां पक्ष है। सत्य वायां पक्ष है। योग (चित्त का एकाग्र होना) धड़ है। महः (महत्तत्व = समष्टिबुद्धितत्व) पुच्छ है, सहारा है। इस पर (विज्ञानमय के विषय में) भी यह श्लोक है।४।

यह श्लोक ब्रह्मानन्द की महिमा को बोधन करता है, जैसा कि आगे यह २। ९ में स्पष्ट ब्रह्म के विषय में है। यहां मनोमय के विषय में यह इस अभिप्राय से दिया है, कि मनोमय कोश मन और वाक्,(यजु, ऋचा, साम, आदेश और अथर्व) रूप है। इस

---

* मन और वाणी का विषय मन और वाणी नहीं होसके, क्यों कि अपने आप में अपना व्यापार [काम] नहीं होसक्ता, इस लिये मनवाणीविशिष्ट मनोमय कोश से वाणीयें मन के साथ लौट आती हैं, यह अभिप्राय है [आनन्द गिरि]

मन और वाणी की इतनी महिमा है, कि केवल एक निरञ्जन ब्रह्म को छोड़ कर और कुछ भी सारे विश्व में मन वाणी का अगोचर (अविषय) नहीं है । मन और वाणी सब जगह साथी बने रहते हैं, और वह बहुत कुछ भय से बचाते हुए मनुष्य का हाथ पकड़ कर आगे लिये चले जाते हैं, जब तक कि वह पूर्ण अभयस्थान के द्वार पर नहीं पहुंच लेता । इस के आगे केवल ब्रह्मानन्द है। वहां केवल आत्मा पहुंचता है। ये बिना पहुंचे द्वार पर से लौटते हैं। हां द्वार पर पहुंचाकर लौटते हैं ।

पांचवां अनुवाक ॥ ५ ॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुतेऽपिच ॥ विज्ञानं देवाः सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान् कामान्त्समश्नुत इति । तस्यैष एव शरीर आत्मा । यः पूर्वस्य ।

तस्माद्वा एतास्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर-आत्मा ऽऽनन्दमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुष विधएव । तस्य पुरुषविधताम् ॥ अन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ॥ तदप्येष श्लोको भवति ॥ ५ ॥

विज्ञान (समझ, बुद्धि) यज्ञ को फैलाता है (पूरा करता

है) और सारे दूसरे कर्मों को फैलाता है। सारे देव विज्ञान को ब्रह्म ज्येष्ठ * (सब से बड़ा) उपासते हैं। यदि कोई पुरुष विज्ञान को ब्रह्म जान लेता है, और उस से यदि प्रमाद नहीं करता, तो वह सारे पापों को शरीर में छोड़ करके सारी कामनाओं को भोगता है। इसका यही शरीर आत्मा है, जो पहले का है।

उस विज्ञानमय से और एक अन्तर आत्मा है—आनन्दमय। उस से यह पूर्ण होरहा है। यह भी पुरुषाकार है। उस (विज्ञानमय) की पुरुषाकारता के सदृश यह पुरुषाकार है। उसका प्रियही सिर है। मोद दायां पक्ष है। प्रमोद बायां पक्ष है। आनन्द आत्मा है। ब्रह्म पुच्छ है सहारा है। इस पर भी यह श्लोक है ॥ ५ ॥

छटा अनुवाक ॥६॥

असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ॥ अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शरीर आत्मा ॥ यः पूर्वस्य॥ अथाऽतोऽनुप्रश्नाः- उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती ३ आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित समश्नुता ३ उ।

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इद ँ सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं

* देव इन्द्रिय हैं और विज्ञान बुद्धि है, बुद्धि इन्द्रियों से पहले उत्पन्न हुई है, इसलिये वह इन सबसे बड़ी है।

चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति ॥ ६ ॥

वह जो ब्रह्म को असत् (नहीं है करके) जानता है, वह स्वयं असत् होता है। 'है ब्रह्म' यदि वह ऐसा जानता है, तब लोग इसे सन्त (है) जानते हैं *। उसका यही शारीर आत्मा है, जो पहले का है। अब इससे आगे (इस पर) प्रश्न हैं—

(प्रश्न) क्या कोई ऐसा पुरुष भी जो ब्रह्म को नहीं जानता, मरकर उस लोक (आनन्दमय ब्रह्म) को जाता है? या क्या मरकर वह ही उस को भोगता है जो कोई विद्वान् है? †

---

* जो ब्रह्म को असत् जानता है, वह असत् के सम होता है जैसे असत् से पुरुष का अर्थ सिद्ध नहीं होता, ऐसेही वह भी अपने परम पुरुषार्थ की सिद्धि से अलग रहता है, और जो उसको सत् जानते हैं, वही परमार्थ सत्तावाले हैं॥ अथवा जो ब्रह्म को नहीं है करके जानता है, वह वर्ण आश्रम आदि की व्यवस्था रूप जो सन्मार्ग है, उस में श्रद्धा नहीं रख सक्ता, क्योंकि यह मर्यादा ब्रह्म की प्राप्ति के लिये है। इसलिये ऐसा नास्तिक लोक में असन्त, असाधु, कहलाता है। और जो ब्रह्म को है करके मानता है, वह उस की प्राप्ति के साधन वर्ण आश्रम आदि की व्यवस्थारूप सन्मार्ग में श्रद्धा रखता हुआ उस को यथार्थ जानता है, इसलिये उसे सन्त (साधु, मार्ग में ठहरा हुआ) कहते हैं (शंकराचार्य)

† ब्रह्म सब के लिये एक जैसा है, क्योंकि वह सब का ही आदि कारण है। ज्ञानी का भी कारण है, अज्ञानी का भी कारण है, तो फिर दोनों के लिये समता होनी चाहिये। यदि ज्ञानी मरकर उसको

(उत्तर) * उस ने चाहा, कि मैं बहुत होजाऊं, मैं प्रजा वाला होऊं। उस ने तप तपा । तप तपने के पीछे उस ने इस सब को रचा, जो कुछ यह है। इस को रचकर के वह इसमें प्रविष्ट हुआ। इसमें प्रवेश करके वह सत् (जो व्यक्त है) और त्यत् (जो कुछ छिपा हुआ है) होगया, निरुक्त (जो दूसरों से अलग करके बतलाया जासक्ता है) और अनिरुक्त (जो अलग नहीं किया जासक्ता है) निलयन (दूसरों का आधार) और अनिलयन, (अनाधार) विज्ञान (चेतन) और अविज्ञान (अचेतन) सत्य और झूठ † यह

प्राप्त होसक्ता है, अज्ञानी भी होना चाहिये,और यदि अज्ञानी हो नहीं सक्ता, तो ज्ञानी भी नहीं होना चाहिये, यह अभिप्राय है (शंकराचार्य, सुरेश्वराचार्य)

* ब्रह्म सारे भुवन में प्रविष्ट होकर रूप रूप के प्रतिरूप होकर अनेक शबल (अपर) रूप धारण किये हुए है [कठ० ६ । ९] पर यह सब कुछ प्रलय में एकरूप था । जैसे पिता चाहता है, कि एक से बहुत होजाऊं. मेरी सन्तति बढ़े, यह इच्छा उसके बहुत होने का बीज है। इसी प्रकार सृष्टि से पहले यह बीजरूप इच्छा प्रकट हुई, कि मैं बहुत होजाऊं। और जैसे तपश्चर्या (ब्रह्मचर्यव्रतों) के पीछे पुरुष को सन्तानोत्पादन का अधिकार है। वैसे ब्रह्म ने भी पहले तप तपा;यह तप सृष्टि रचने का विचार था। फिर सृष्टि को रचा। और रचकर वह स्वयं इस में प्रविष्ट हुआ,इस प्रवेश से यह अभिप्राय है. कि उसने अलग होकर उसको नहीं बनाया, किन्तु स्वयं अन्तरात्मा होकर अपना शरीर जो प्रकृति है, उसको अनेक रूपों में बदला है। यह उसके सारे शबलरूप हैं; इसीलिये इस रीति पर कहा है, कि वह इस में प्रविष्ट होकर सत् त्यत् होगया, इत्यादि। इसको मिलाओ छान्दो० उप० ६ । २ । १ ॥

† जो हमारे इन्द्रियों को सच्चा और झूठा प्रतीत होता है।

(सत) सत्य (ब्रह्म) होगया। जो कुछ यह है। उस को सत्य कहते हैं। इस पर यह श्लोक है॥ ६॥

व्याख्या—ब्रह्म जो इस स्थूल सृष्टि में अन्तरात्मा बनकर बैठा है, हमारे आत्मा में भी उसका आत्मा बनकर बैठा है, इसलिए बाह्य अभ्यन्तर सारा जगत उसकी महिमा दिखला रहा है। जहां हम बाहर उसकी महिमा देखते हैं, वहां हमारे अन्दर भी उसकी महिमा भरी है। सो यदि कोई पुरुष ऐसे अधिपति को 'नहीं है' करके जानता है, तो उसकी अपनी हस्ती न होने के बराबर है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष तो उसी की हस्ती को हस्ती जानते हैं, जो इस मनुष्य जन्म में आकर यूंही नहीं चल देता, किन्तु सारे परदे उठाकर अन्तरात्मा के दर्शन कर जाता है। यही ब्रह्म सारे कोशों के भीतर छिपा हुआ है। जब विज्ञानमय कोश के अन्दर प्रवेश करोगे, तो इसका आनन्दमय शरीर तुम्हारे सामने आएगा, तब फिर जिधर देखोगे, तुम्हारे लिये प्रिय है, मोद है, प्रमोद है, आनन्द है। यहां वह आत्मा है, जो सब का आत्मा है। यह ब्रह्म है यह आत्मा है, जो सारी रचना के अन्दर है, जिस का जानने वाला सारी कामनाओं को भोगता है।

यहां तक पांचों कोशों की विवेचना की गई है। सब से पहला स्थूल देह अन्नमय कोश है। उसके अन्दर उससे सूक्ष्म २ चार कोश और हैं। इसी प्रकार प्राणमय कोश के अन्दर तीन, मनोमय कोश के अन्दर दो, और विज्ञानमय कोश के अन्दर एक और कोश है, वह सब से अन्तिम आनन्दमय कोश है। यहां उस

आत्मा के साक्षात् दर्शन होते हैं, जो स्थूल सूक्ष्म सारे विश्व का अन्तरात्मा है।

(प्रश्न) यहां मनुष्यों के दो भेद किये हैं, एक ज्ञानी, दूसरे अज्ञानी। यह भेद क्या इसी जगत् में समाप्त हो जाता है वा मरने के पीछे भी रहता है? यह इस प्रकार पूछा गया है, कि क्या जब ज्ञानी मरता है, तो वह जिस तरह इस अन्नमय कोश को छोड़ देता है, उसी तरह इस के भीतरी कोशों को भी छोड़ता हुआ आनन्दमय कोश तक पहुंच जाता है वा नहीं? और यह यदि अन्नमय कोश को छोड़ कर भी दूसरे कोशों के भीतर प्रवेश नहीं करता, तो फिर क्या विद्वान् भी इस शरीर को छोड़ कर वैसा ही रहता है, वा उस लोक (आनन्दमय कोश) को भोगता है।

इसका उत्तर आगे इस वल्ली की समाप्ति तक है, जिसका आशय यह है, कि ब्रह्म इस सारी सृष्टि को रचकर इसमें स्वयं प्रविष्ट है, वह स्वयं आनन्दमय है, यहां जो अपने आत्मा में उसको देख लेता है, सारे परदे उठा कर, वही परलोक में उसको भोगता है, दूसरा नहीं।

सातवां अनुवाक ॥ ७ ॥

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मान ँ स्वयमकुरुत। तस्मात् तत् सुकृतमुच्यत इति ॥ यद्वैतत्सुकृतम्। रसो वै सः। रस ँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्॥ एषह्येवानन्दयाति॥

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति ॥ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते ॥ अथ तस्य भयं भवति । तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य । तदप्येष श्लोको भवति ॥ ७ ॥

आरम्भ में यह असत् * था, उससे सत् उत्पन्न हुआ । उसने स्वयं अपने आप को बनाया, इस लिये वह सुकृत † कहलाता है, यह जो सुकृत है, वह रस है ‡ क्योंकि रस को पाकर ही यह (पुरुष) आनन्द भोगता है । कौन जीसक्ता, कौन प्राण लेसक्ता, यदि यह आकाश § आनन्द न होता । यह ही आनन्द का हेतु है ।

---

* असत्, अव्यक्त रूपवाला, यह जगत् जो अब नाम रूप से भेद किया जाता है,यह उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त नामरूप वाला था,उससे सत् अर्थात् व्यक्त नाम = रूपके भेदवाला यह विविध जगत् उत्पन्न हुआ। असत् = शुद्ध, सत् = शबल

† सुकृत = अच्छा बना । अथवा सुकृत = स्वकृत, अपना बना हुआ, वा आप बना हुआ; सुकृत = स्वयं बनाने वाला, पुण्यरूप चेतन ब्रह्म [शंकराचार्य] ।

‡ रस है, सार है । यह निःसार जगत् उसी से सार वाला है । यह नीरस उसी से रसवाला है । जिस तरह रस आनन्द का हेतु है । उसी तरह ब्रह्म है । ब्रह्मने स्वयं सब कुछ बनाया है,वह सबके अन्दर रस रूप होकर प्रविष्ट है, विद्वान् सब के अन्दर उस रस को भोगते हैं । और इसी लिये वह बिना किसी बाह्य रस के उसी रस को पाकर तृप्त दीखते हैं । देखो कौषी० उप० १ । ५

§ अथवा आकाश में = हृदयाकाश में,आनन्द ब्रह्म) न हो ।

* जब वह—इस (हृदयस्थ ब्रह्म) में अभय प्रतिष्ठा (स्थिति) पालेता है, जो (ब्रह्म) अदृश्य है, अशरीर है, अनिरुक्त है, और (किसी से) सहारा दिया हुआ नहीं है, तब वह अभय को पालेता है। क्योंकि जब वह इसमें एक थोड़ासा भी भेद † करता है, तब उसे भय होता है। पर यह भय केवल उसके लिये है, जो अपने आपको विद्वान् मान लेता है‡ (स्वयं धीरः पण्डितम्मन्यमानः, न कि सच्चे विद्वान् के लिये)। इस पर भी यह श्लोक हैं॥ ७॥

आठवां अनुवाक ॥ ८ ॥

भीषाऽस्माद् वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति सैषाऽऽनन्दस्य मीमा ँसा भवति। युवा स्यात् साधु युवाऽध्यायकः। आशिष्ठो दृढिष्ठोबलिष्ठः। तस्येयंपृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्॥ स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः [१]। स एको मनुष्य-

---

* यहां तक ब्रह्म का आस्तित्व दिखला कर, विद्वान् ही उसको प्राप्त होता है, अविद्वान् नहीं, इसके समर्थन के लिये अगला ग्रन्थ है।

† उत्+अरम्=उदरम्, उत्=भी. अरम्=छिद्र, भेद। यह अर्थ शंकराचार्य के अनुसार दिया गया है। उत्=अपि और अरम्=छिद्रम् के अर्थ में प्रयुक्त है यह संदिग्ध है।

‡ 'विदुषो मन्वानस्य' यहां अमन्वानस्य छेद करके शंकराचार्य ने यह अर्थ किया है, जो भेद को जानता है, और अभेद को नहीं मानता है। शंकरानन्द ने लिखा है, कि जो कर्म विद्या को जानता है पर ब्रह्म को मनन नहीं किया है।

गन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणा मानन्दाः । स एको देव-गन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः । स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकाम-हतस्य । ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः । स एक आनजानजानां देवाना मानन्दः [२] श्रोत्रि-यस्य चाकामहतस्य । ते ये शत माजानजानां देवा-नामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवाना मानन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः [३] श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्याऽऽ-नन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चा-कामहतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः । स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य [४] ॥

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमय मात्मान मुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मान मुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमय मात्मान मुपसंक्रामति। एतमानन्दमय-मात्मान मुपसंक्रामति॥ तदप्येष श्लोको भवति।८।

'इस (ब्रह्म) के भय से वायु चलता है, भय से सूर्य उदय होता है; इसके भय से अग्नि और इन्द्र, और पांचवां मृत्यु दौड़ता है'। (देखो कठ० उप० ६। ३)

अब यह आनन्द का विचार (आरम्भ होता) है–

मनुष्य जो युवा हो, पर साधु युवा (नेक युवक) हो और (वेद) पढ़ा हुआ हो। बड़ा फुर्तीला, बड़ा दृढ़ और बड़ा बलवान् हो। यह सारी पृथिवी धन की भरी हुई उसकी हो। वह एक मानुष आनन्द (की चोटी) है। वह जो सौ मानुष आनन्द हों वह एक मनुष्यगन्धर्वों का आनन्द है, और उस का, जो वेद को जानता है और कामहत (कामनाओं से दबा हुआ) नहीं है।

मनुष्य गन्धर्वों के जो सौ आनन्द हैं, वह एक देवगन्धर्वों का आनन्द है,और उसका है,जो श्रोत्रिय हैं और कामहत नहीं है॥

वह देवगन्धर्वों के जो सौ आनन्द है, वह एक पितरों का आनन्द है, जो चिरलोकल्लोक हैं (दीर्घकाल तक अपनी नेक कमाई के आनन्द भोगते हैं) और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है॥

चिरलोकलोक पितरों के जो सौ आनन्द हैं, वह एक आजानज देवताओं का आनन्द है, और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है।

आजानज देवताओं के जो सौ आनन्द हैं, वह एक कर्मदेव देवताओं का आनन्द है, जो (वैदिक) कर्म से देवताओं में मिलते हैं, और उसका है, जो श्रोत्रिय है, और कामहत नहीं है।

कर्मदेवताओं के जो सौ आनन्द हैं, वह एक देवों का आनन्द है, और उसका है, जो श्रोत्रिय है, और कामहत नहीं है।

देवताओं के जो सौ आनन्द हैं, वह इन्द्र का एक आनन्द है। और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है।

इन्द्र के जो सौ आनन्द हैं, वह बृहस्पति का एक आनन्द है, और उसका है, जो श्रोत्रिय है, और कामहत नहीं है।

बृहस्पति के जो सौ आनन्द हैं, वह प्रजापति का एक आनन्द है। और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है।

प्रजापति के जो सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मा का एक आनन्द है। और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है *॥

---

* यहां आनन्द के बहुत से दर्जे दिये गए हैं। और वह आनन्द क्रमशः जिनमें बढ़ता गया है, वे ये हैं। मनुष्यगन्धर्व, देवगन्धर्व, पितर, आजानज देव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति, ब्रह्मा। यह विषय लगभग ऐसा ही शतपथ ब्राह्मण १४। ७। १। ३१ में और काण्व शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् ४। ३। ३२ में भी पाया जाता है। आनन्द की परा काष्ठा ब्रह्मलोक में है, और सब जीव इसी आनन्द का एक छोटा सा हिस्सा उपभोग करते हैं 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृह० आ० उप० ४। ३। ३२)॥

जो यह (ब्रह्म) है पुरुष में, और जो वह (ब्रह्म) है सूर्य में, वह एक है ।

यहां तैत्तिरीय में पहले मनुष्य हैं,पीछे मनुष्य गन्धर्व,फिर देवगन्धर्व, और फिर पितर आए हैं । माध्यन्दिन शतपथ और बृह० आर० उप० में पहले मनुष्य और उसके पीछे पितर हैं । मनुष्यगन्धर्व और देवगन्धर्वों का वहां वर्णन नहीं । फिर पितरों का विशेषण यहां चिरलोकलोक है, वहां जितलोक है । यहां वह आनन्द जो अकामहत श्रोत्रिय से उपभोग किया जाता है,उसकी समता मनुष्यगन्धर्वोंसे आरम्भ करके समाप्ति तक दिखलाई है । और वहां पहले पहल आजानदेवों के साथ अकामहत श्रोत्रिय आया है । यहां गन्धर्व पहले और पितर पीछे हैं, वहां पितर पहले और गन्धर्व पीछे हैं ॥

हम नीचे तीनों के पाठ को आमने सामने रखकर सारे भेद स्पष्ट दिखला देते हैं—

तैत्ति० उ०	शतप० ब्रा०	बृह० आर० उप०
मनुष्य	मनुष्य	मनुष्य
मनुष्य गन्धर्व (और श्रोत्रिय)	—	—
देवगन्धर्व	—	—
पितर (चिरलोकलोक)	पितर (जितलोक)	पितर (जितलोक)
—	—	गन्धर्व
आजानज देव	कर्मदेव	कर्मदेव
कर्मदेव	आजानदेव (और श्रोत्रिय)	आजानदेव (और श्रोत्रिय)
देव	देव	—
इन्द्र	गन्धर्व	—
बृहस्पति	—	—
प्रजापति	प्रजापति	प्रजापति
ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा

जो इसको जानता है, वह जब इस लोक से चलता है, तो वह इस अन्नमय आत्मा को पहुंचता है, इस प्राणमय आत्मा को

यहां जो गन्धर्वों का आनन्द, प्रजापति का आनन्द और ब्रह्मा का आनन्द कहा है। बृहदारण्यक में इसकी जगह गन्धर्वलोक में आनन्द, प्रजापतिलोक में आनन्द और ब्रह्मलोक में अनन्द कहा है। यह मनुष्य से ऊंचे मनुष्यगन्धर्व आदि कौन हैं ? और उनके लोक कौन हैं ? इसका निर्णय करने वाले हमारे पास पुष्कल प्रमाण नहीं हैं। प्राचीन व्याख्याओं में भी यह बात पूरी हल की हुई नहीं है। स्वामी शंकराचार्य ने जो लिखा है, वह यह है मनुष्य गन्धर्व वह हैं, जो पहले मनुष्य होकर कर्म और उपासना के सामर्थ्य से गन्धर्व हुए हैं। उनमें अन्तर्धान हो जाना पास होकर भी दूसरों की दृष्टि से छिप जाना] इत्यादि शक्तियें हैं। उनके शरीर और इन्द्रिय सूक्ष्म हैं। इसी लिये वह आसानी से जा आ सकते हैं और जान सकते हैं-और जो कुछ अपने प्रतिकूल हो, उसको वह आसानी से हटा सकते हैं। अपनी रुचि के पूरा करने में रुकावट होनी, और प्रतिकूल का प्रतीकार न सूझना, यही दो बातें चित्त को गंदला रखती हैं। मनुष्य गन्धर्वों में यह त्रुटि मनुष्यों की अपेक्षा बहुतही कम होती है, इसलिए उनका चित्त अधिक प्रसन्न (निर्मल) रहता है और चित्त जितना निर्मल अधिक हो, उतनाही अधिक सुख अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार पहली २ भूमि से अगली २ भूमि अधिक निर्मल होने से सौ २ गुना अधिक आनन्द बढ़ता जाता है। देवगन्धर्व वे हैं, जो जन्म से गन्धर्व हैं। पितरों का विशेषण चिरलोकलोक इसलिये है, कि वह पितृलोक में चिरकाल तक रहते हैं, यद्यपि वह उस लोक में सर्वदा नहीं रहते। अजानजदेव वह हैं, जो नेक बर्ताव से देव स्थानों में उत्पन्न हुए हैं। आजान=देवलोक, उसमें उत्पन्न हुए=आजानज। कर्मदेव वह हैं, जो केवल वैदिक कर्म अग्नि होत्र आदि स

पहुंचता है, इस मनोमय आत्मा को पहुंचता है, इस विज्ञानमय आत्मा को पहुंचता है, इस अनन्दमय आत्मा को पहुंचता है।

इस परभी यह श्लोक है ॥ ८ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न विभेति कुतश्चनेति। एतं ह वाव न तपति। किमह ँ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मान ँ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मान ँ स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।

वह जो ब्रह्म के उस आनन्द को जानता है, जहां से मन समेत वाणियें विन पहुंचे लौट आती हैं, वह किसी से नहीं डरता है।

देवता बने हैं। देव ३३ हैं, जिनके लिये हवि दी जाती है। इन्द्र उनका स्वामी है। वृहस्पति इन्द्र का पुरोहित है। प्रजा-पति = विराट् और ब्रह्मा = हिरण्यगर्भ। शंकरानन्द ने मनुष्यगन्धर्वों के विषय में 'अन्तरिक्ष में रहने वाले' अधिक लिखा है। द्विवेदगङ्ग ने शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार लिखा है। पितर वह है, जिन्हों ने दाक्षिण मार्ग से पितृलोक का जीता है। जो अपने जीवितकाल में पितृयज्ञों को पूरा करते रहे हैं। कर्मदेव वह हैं, जो श्रौत कर्मों के अनुष्ठान से देवता बने हैं। आजानदेव वह हैं, जो जन्म से ही देवता हैं न कि मनुष्यों से देवता बने हैं, प्रजापति विराट है। और ब्रह्मा हिरण्यगर्भ है। शंकराचार्य ने बृहदारण्यक में भी ऐसी ही व्याख्या की है। वहां आजानदेवों के विषय में यह लिखा है, 'आजानतः, उत्पत्तितः' अर्थात् जो जन्म से देवता हैं, वह आजानदेव है ॥

* इसको यह ख्याल नहीं तपाता है, कि क्या मैंने नेक काम न किया? और क्या मैंने पाप किया? वह जो इस प्रकार इन दोनों (पुण्य और पाप) को जानता है, *वह अपने आपको बलवान् बनाता है। क्योंकि यह इन दोनों से आत्मा को बलवान् बनाता है, जो इस प्रकार (ब्रह्म को) जानता है। यह उपनिषद् (परमरहस्य दिखला दिया) है। ६।

† ब्रह्मविद्, इदं, अयं, इदं, एकविंशतिः (१) अन्नात्। अन्नरसमयात्, प्राणः, व्यानः अपानः, आकाशः, पृथिवी पुच्छं,

---

* मरणकाल में यह दोनों भय जो मनुष्य के सामने आते हैं, कि हा कष्ट मैंने यूंही जन्म खोदिया। कुछ भी पुण्य सञ्चय न किया, जिस का सञ्चय करना इस से पहले मेरे हाथ में था। और शोक मैंने पाप कर्म कमाए, जिन को, अब जब कि और सब कुछ यहीं छोड़ कर चला हूं, साथ लिये जाता हूं। यह दोनों भय उस के लिये नहीं रहते, जो यहां ब्रह्म के आनन्द को अनुभव कर लेता है। वह पाप पुण्य दोनों से ऊंचा होजाता है। जो भावना कर्मों को पुण्य और पाप बनाती हैं, यह उस से ऊपर होगया है। उस के जिन कर्मों को हम पुण्य समझते हैं, वह स्वभाविक होते हैं, न कि पुण्य की भावना से, और पाप कर्म को तो वह उसी समय दूर हटा चुका है, जब वह ब्रह्म प्राप्ति के यत्न में था, क्योंकि 'नाविरतो दुश्चरितात्' वह उस को नहीं जानता, जो दुश्चरित से नहीं हटा है। इसी लिये ब्रह्मज्ञानी के विषय में बल देकर कहा है 'न बिभेतिकुतश्चन'।

* 'सयः' से 'स्पृणुते' तक इन दोनों वाक्यों का अर्थ स्पष्ट नहीं है।

† यह समाप्ति में ब्रह्मवल्ली के अनुवाक और उन के वाक्यों की गणना की है। १, २ आदि अंक पहला दूसरा आदि अनुवाक दिख-

षड्विंशतिः (२) प्राणं, यजुः, ऋक्, साम, आदेशः, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं, द्वाविंशतिः (३) यतः, श्रद्धा, ऋतं, सत्यं, योगः, महः, अष्टादश (४) विज्ञानं, प्रियं, मोदः प्रमोदः आनन्दः, ब्रह्मपुच्छं, द्वाविंशतिः (५) असन्नेव, अष्टाविंशतिः (६) असत, षोडश

लाने के लिये दिय हैं। पहला अनुवाक 'ब्रह्मविद्' से आरम्भ होता है, इस लिये यहां पहले लिखा है 'ब्रह्मवित्'। इस अनुवाक में २१ वाक्य हैं, इस लिये अन्त में लिखा है 'एक विंशतिः' और 'इदं, अयं, इदं' इस का तात्पर्य यह है, कि इस अनुवाक में अन्नमय कोश का जो वर्णन है, स ।। । :: यव हैं। जैसे वहां का पाठ है 'इदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' यहां पहले 'इदम्' है, फिर तीन वार 'अयम्' फिर 'इदम्' ये पांचों अंग हैं। इसी प्रकार 'अन्नात्' इस से दूसरे अनुवाक का आरम्भ है। 'अन्नरसमयात' दूसरे (प्राणमय) कोश का आरम्भ है। प्राण, व्यान अपान, आकाश, पृथिवी, ये पांचों अंग हैं। २६ (षड्विंशतिः) इस में वाक्य हैं। इसी तरह (५) तक जानना चाहिये। द्वाविंशतिः = २२, अष्टादश = १८। 'असन्नेव' यह छटे का आरम्भ वाक्य है, २८ वाक्य हैं। सातवें का आरम्भ वाक्य 'असत' वाक्य १६। आठवें का 'भीषाऽस्मात्' आरम्भ वाक्य है, इस अनुवाक में विशेष बात मानुषः' से आरम्भ करके 'ब्रह्मणः' तक आनन्द के दर्जे दिखलाए हैं। 'सयश्च' से उस आनन्द की लोक परलोक में एकता दिखला कर 'संक्रामति' स परलोक में ज्ञानी के लिये उस की प्राप्ति दिखलाई है। इस में वाक्य ५१ हैं। 'यतः' नवें का आरम्भ वाक्य है। 'कुतश्चन' पर जोर दिया है। वाक्य ११ हैं।

'ब्रह्मविद्' ब्रह्मवल्ली का आरम्भ वाक्य है। 'य एवं वेद। इत्युपनिषत्' समाप्ति वाक्य है।

(७) भीषाऽस्मात्, मानुषः मनुष्यगन्धर्वाणां, देवगन्धर्वाणां, पितृणां चिरलोकलोकानां, आजानजानां देवानां, कर्मदेवानां, इन्द्रस्य, बृहस्पतेः, प्रजापतेः, ब्रह्मणः, स यश्च, सङ्क्रामति, एक-पञ्चाशत् (८) यतः कुतश्चन, एकादश (६)
ब्रह्मविद्, य एवंवेद, इत्युपनिषत् ॥

† सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेज-स्विनावधीतमस्तु । माविद्विषावहै । ओ३म् । शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

* भृगुवल्ली (३) पहला अनुवाक ॥ १ ॥

ओ३म् । सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु । सह-वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । माविद्विषाव है । ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(यह फिर वल्ली के आरम्भ का शान्तिपाठ है) ।

भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि

---

† यह वल्ली की समाप्ति का शान्ति पाठ है, जो आरम्भ में भी आया है और भृगुवल्ली के आरम्भ और समाप्ति में भी है । कठ की समाप्ति में भी आया है । और भी कई जगह प्रयुक्त हुआ है । अर्थ इस वल्ली के अरम्भ और कठ की समाप्ति में दे आए हैं ।

* ब्रह्मविद्या कहदी है. उसकी प्राप्ति के उपाय पञ्च कोश बतलाए हैं । अब इन पांचों कोशों में क्रमशः प्रवेश कराने वाला साधन तप बतलाते हैं । और ब्रह्म के जिज्ञासु को श्रद्धा भक्ति पूर्वक गुरु की शरण लेनी चाहिये । तब वह गुरु के बतलाए मार्ग पर चलता हुआ उत्तरोत्तर भूमि में प्रवेश करता हुआ ब्रह्मानन्द को पालेगा, यह भृगु के इतिहास से दिखलाते हैं । अन्त में कई एक व्रत और उपासना दिखलाकर ब्रह्मज्ञानी की कृतकृत्यता दिखलाकर उपनिषद् को समाप्त किया है ॥

भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । तꣳहोवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । १ ।

वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया, (और-कहा) 'भगवन् ! मुझे ब्रह्म बतलाएं' उसने उसको यह कहा—'अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन, वाणी' * ।

और उसको फिर कहा—'जिससे ये भूत (जन्तु) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, और मरते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको जानने की इच्छा (प्रयत्न) कर, वह ब्रह्म है' । उसने तप तपा, † और तप तप कर — । १ ।

---

* अभिप्राय यह है, कि ब्रह्म, जिसका आगे (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं इत्यादि) लक्षण किया है, उस को अन्न आदि के द्वारा जान । जैसा कि अन्यत्र कहा है 'प्राणस्य प्राण मुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुस्ते निचिक्युर्ब्रह्मपुराणमग्र्यम्' वे जो प्राण के प्राण, नेत्र के नेत्र, श्रोत्र के श्रोत्र, अन्न के अन्न, और मनके मन को जानते हैं, वह पुराने सब से श्रेष्ट ब्रह्म को जानते हैं । इससे यह दिखलाया है कि अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन, वाणी, ये ब्रह्म की उपलब्धि में द्वार हैं (शंकराचार्य)

† पिता ने भृगु को ब्रह्म का लक्षण बतलादिया, और उसके ज्ञान के द्वार (अन्न प्राण आदि) बतलादिये । पर अभी उसके प्रश्न का उत्तर पूरा नहीं हुआ । तथापि वरुण ने इस के आगे कुछ नहीं कहा । योग्य

दूसरा अनुवाक ॥ २ ॥

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येवखल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेववरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। त होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥ २ ॥

उसने अन्न * को ब्रह्म जाना, क्योंकि अन्न से ये भूत उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होकर अन्न से बढ़ते हैं, और मरते हुए अन्न में प्रवेश करते हैं।

यह जानकर, वह फिर अपने पिता वरुण के पास गया, और कहा 'भगवन्! मुझे ब्रह्म बतलाएं'। उसने उसे कहा 'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ब्रह्म है' †

उसने तप तपा, और तप तपकर—। २।

शिष्य ने पिता के अभिप्राय को पालिया। और उसने इस लक्षण वाले को ढूंढने के लिये तप तपा। तप तपने के पीछे जो उस लक्षणवाला पहले पहल उसे प्रतीत हुआ, वह आगे दिखलाते हैं। तप से अभिप्राय धर्मपरायण होकर अन्तःकरण को शुद्ध प्रदीप्त बनाने से है।

* पूर्व जिस क्रम से अन्नमयादि कोश बतलाए हैं, उसी क्रम से भृगु का प्रवेश इन कोशों में हुआ है। जब तक वह आनन्दमय कोश तक नहीं पहुंचा, उस का संशय नहीं मिटा। इस लिये यह जानकर भी बार २ पिता के पास आया है।

अन्न=विराट, क्योंकि इसमें लक्षण घट सका है (आनन्दगिरि)

† ब्रह्म की प्राप्ति का पूर्ण साधन है॥

तीसरा अनुवाक ॥ ३ ॥

प्राणो ब्रह्मेति व्यजनात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। त ँ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ ३ ॥

उसने प्राण * को ब्रह्म जाना । क्योंकि प्राण से सब भूत उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होकर प्राण से जीते हैं; और मरते हुए प्राण में प्रवेश करते हैं ।

यह जान वह फिर अपने पिता वरुण के पास आया 'भगवन्! मुझे ब्रह्म बतलाएं, उसको उसने कहा 'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ब्रह्म है' ।

उसने तप तपा, और तप तप कर—॥ ३ ॥

मनो ब्रह्मेति व्यजनात । मनसा ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । मनसा जातानि जीवन्ति । मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति। त ँ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपोब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥ ४ ॥

* वा जीवन, देखो बृह० आर० उप० ४ । १ ३

उसने मनको ब्रह्म जाना। क्योंकि मनसे ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मनसेही जीते हैं, और मरते हुए मन में ही लीन होते हैं।

यह जान वह फिर अपने पिता वरुण के पास आया 'भगवन् मुझे ब्रह्म बतलाएं' उसको उसने कहा 'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ब्रह्म है'

उसने तप तपा, और तप तप कर ॥ ४ ॥

पांचवां अनुवाक ॥ ५ ॥

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। ५।

उसने विज्ञान को ब्रह्म जाना, क्योंकि विज्ञान से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होकर विज्ञान से जीते हैं; और मरते हुए विज्ञान में प्रवेश करते हैं।

यह जानकर वह फिर अपने पिता वरुण के पास आया 'भगवन्! मुझे ब्रह्म बतलाएं' उसको उसने कहा 'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ब्रह्म है'।

उसने तप तपा, और तप तप कर ॥ ५ ॥

छटा अनुवाक ॥ ६ ॥

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव ख-

ल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता स य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति । प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या । ६ ।

उसने आनन्द को ब्रह्म जाना, क्योंकि आनन्द से ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं,उत्पन्न होकर आनन्द से जीते हैं,और मरते हुए आनन्द में प्रवेश करते हैं।

यह है भृगुकी और वरुण की विद्या, * परम आकाश में (हृदय में) प्रतिष्ठावाली † जो इस प्रकार ‡ जानता है, प्रतिष्ठावाला होता है। प्रभूत अन्नवाला और अन्न का खानेवाला (स्वस्थ नीरोग) होता है।और महान् होता है, प्रजा (सन्तति) से, पशुओं से और ब्रह्मवर्चस से, और महान् कीर्ति से ॥ ६ ॥

---

* जो वरुण ने सिखलाई और उस के पुत्र भृगु ने सीखी है।

† जो विद्या अन्नमय से प्रवृत्त होकर हृदयाकाश की गुफा में जो परम आनन्द है, उसमें पहुंच कर ठहरी है समाप्त हुई है।

‡ और भी जो कोई इस विद्या को तपकेही साधन से और इसी क्रम से अन्दर अन्दर प्रवेश करता हुआ, आनन्द ब्रह्म को जानलेता है, वह उस परम आनन्द में जाठहरता है। और यह उसको लौकिक फल होता है, कि उसके पास प्रभूत अन्न होता है, और नीरोग रहकर उसको भोगता है। इत्यादि ॥

सातवां अनुवाक ॥ ७ ॥

अन्नं न निन्द्यात। तद् व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या ॥७॥

अन्न की कभी निन्दा न करे, यह व्रत है ॥

प्राण अन्न * है, शरीर अन्न का खाने वाला है। शरीर प्राण के सहारे है, और प्राण शरीर के सहारे है। वह जो यह जानता है, कि अन्न, अन्न पर ठहरा हुआ (अन्न के सहारे) है, † वह प्रतिष्ठा वाला होता है, प्रभूत अन्नवाला और अन्न का खाने वाला (नीरोग) होता है। महान् होता है, प्रजा (सन्तति) से, पशुओं से, ब्रह्मवर्चस से, महान् कीर्ति से ॥

आठवां अनुवाक ॥ ८ ॥

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्।

---

* क्योंकि शरीर में अन्न की तरह रहता है ॥

† अन्न और प्राण एक दूसरे के सहारे हैं। इस का सारांश यह है कि इस लोक में एक हस्ती दूसरी हस्ती पर निर्भर रखती है। एक अन्न है, दूसरा अन्नाद (खाने वाला) है। जो अन्न है, वह भी अन्नाद है, और जो अन्नाद है, वह भी अन्न है। प्राण शरीर में अन्न की तरह रहता है। प्राण अन्न है और शरीर अन्नाद है। और शरीर प्राण के सहारे है, इस प्रकार शरीर अन्न है और प्राण अन्नाद है ॥

ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्नेप्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया भशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥८॥

अन्न को परे न हटाए (अनादर न करे) यह व्रत है ।

जल अन्न है, ज्योति अन्नाद (अन्न का खाने वाला) है। ज्योति जल के सहारे है, और जल ज्योति के सहारे है । इस प्रकार यह अन्न अन्न के सहारे है (जल और ज्योति एक दूसरे पर सहारा रखते हैं) । जो जानता है, कि यह अन्न अन्न के सहारे पर है, वह प्रतिष्ठित होता है, प्रभूत अन्न वाला और अन्न का खाने वाला (नीरोग) होता है । महान् होता है, प्रजा से, पशुओं से, और ब्रह्मवर्चस से. महान् कीर्ति से ॥८॥

नवां अनुवाक ॥ ९ ॥

अन्नं बहु कुर्वीत । तद्व्रतम् । पृथिवी वा अन्नम् । आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः । आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता । तदेतदन्नमन्नेप्रतिष्ठितम्। स य एतदमन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेदप्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादोभवति । महान्भवति प्रजया।पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥९॥

अन्न को बहुत सम्पादन करे, यह व्रत है ॥

पृथिवी अन्न है, आकाश अन्नाद (अन्न का खाने वाला) है। आकाश पृथिवी पर (वा, में) ठहरा हुआ है, पृथिवी आकाश पर (वा,में) ठहरी हुई है। इस प्रकार यह अन्न अन्न पर ठहरा हुआ है जो जानता है, कि यह अन्न अन्न पर ठहरा हुआ है, वह प्रतिष्ठित होता है, प्रभूत अन्न वाला और अन्न का खाने वाला होता है। महान् होता है, प्रजा से, पशुओं से, ब्रह्मवर्चस से, और महान् कीर्ति से। ९।

दसवां अनुवाक ॥ १० ॥

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद्व्रतम् । तस्माद् यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात । आराध्यस्मा अन्न मित्याचक्षते । एतद्वै मुखतो ऽन्नꣳराद्धम् । मुखतो ऽस्मा अन्नꣳराध्यते । एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम् । मध्यतो ऽस्माअन्नꣳराध्यते । एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम् । अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते (१) । य एवं वेद ।

क्षेम इति वाचि । योगक्षेम इति प्राणापानयोः । कर्मेति हस्तयोः । गतिरिति पादयोः । विमुक्तिरिति पायौ । इति मानुषीः समाज्ञाः । अथ दैवीः । तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति (२) । यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे ।

तत् प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह

इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति (३) तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्ते ऽस्मै कामाः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि ये ऽप्रिया भ्रातृव्याः।

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः (४)। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मान मुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मान-मुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमां-ल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत साम-गायन्नास्ते।

हा३वुहा३वु हा३वु(५)अहमन्न महमन्नं महमन्नम्। अहमन्नादो ऽ३हमन्नादो ऽ३हमन्नादः। अह॑ँश्लोक-कृदह॑ँ श्लोककृदह॑ँ श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथ-मजा ऋता३स्य। पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य ना ३ भा।यि। यो मा ददाति स इदेव मा३ऽऽवाः। अहमन्नमन्नमद-न्तमा३द्मि।अहंविश्वं भुवनमभ्यभवा३म्।सुवर्नज्योतिः। य एवं वेद। इत्युपनिषत् (६)। १०।

कभी किसी (अतिथि) को अपने घर से वापिस न फेरे, यह व्रत है । इस लिये पुरुष को चाहिये, कि जिस किसी विध से बहुत अन्न प्राप्त करे, क्योंकि (भले) लोग इस के लिये (अतिथि के लिये) अन्न तय्यार है, यही कहते हैं (न कभी नहीं करते) । यदि वह (दाता) मुख्यता से (आदरमान से) अन्न तय्यार करता है (देता है, अतिथि के लिये), तो मुख्यता (आदरमान) से इस (देनेवाले) के लिये अन्न तय्यार होता है, यदि वह साधारणता से इस के लिये अन्न तय्यार करता है, तो साधारणता से इस के लिये अन्न तय्यार होता है, यदि वह निकृष्टता से अन्न देता है तो निकृष्टता से इसके लिये अन्न तय्यार होता है । जो इस प्रकार जानता है । (= जैसा दिया वैसाही मिलता है इसलिये सदा आदर मान से देना चाहिये) ।

* रक्षारूप से वाणी में; प्राप्ति और रक्षा के रूप से प्राण और अपान में; कर्मरूप से हाथों में, गतिरूप से पाओं में, त्यागरूप से गुदा में । यह मानुषी समाज्ञाएं हैं [यह ब्रह्म की वह पहचानें हैं, जो मनुष्य के कर्मों में प्रकाशित होती हैं] अब दैवी समाज्ञाएं [ब्रह्म की वह

---

* यह ब्रह्म की पहचान और उपासना है । उपनिषदों की भूमिका में उपनिषदों का यह सिद्धान्त हम स्थिर कर आए हैं, कि जिस किसी पदार्थ में जो २ शक्ति प्रकाशती है, वह सब ब्रह्म की महिमा को बोधन करती है, क्योंकि उसके विना न आग जल सक्ती है, न आंख देख सक्ती है । इस लिये आग में जलाना और आंख में देखना यह ब्रह्म की पहचान है 'क्वप्रेप्सन्दीप्यत ऊर्ध्वोअग्निः' कहां पहुंचना चाहता हुआ अग्नि ऊपर चमकता हुआ है । (अथर्व १० । ७ । ४) इसी आशय से यहां ये पहचानें दी हैं ।

पहचानें जो देवताओं से सम्बन्ध रखती हैं] कहते है । तृप्तिरूप से वृष्टि में; बलरूप से बिजली में; यशरूप से पशुओं में; ज्योतिरूप से नक्षत्रों में, [पुत्र पौत्रादि रूप से] आगे बढ़ना, अमृतत्व, और आनन्दरूप से उपस्थ में; सर्वरूप से आकाश में ।

उस (ब्रह्म) को सबका सहारा जानकर उपासे, तब सहारा देने वाला बनता है । उसको महान् जानकर उपासे, तब वह महान् होजाता है । उस को मन के रूप से उपासे, तब मनवाला (मनस्वी) होजाता है । उसको झुकाव (जिस के आगे सब झुके हुए हैं) के रूप से उपासे, तब उसके लिये सारी कामनाएं झुक पड़ती हैं । इसको ब्रह्मरूप से उपासे, तब वह ब्रह्म वाला * होजाता है । उसको ब्रह्म का परिमर † = ब्रह्माण्ड का लय करने वाला है, इस प्रकार उपासे, तब इससे द्वेष करने वाले शत्रु चारों ओर मरते हैं, और चारों ओर वह शत्रु मरते हैं जो इसे अप्रिय हैं ।

वह (ब्रह्म) जो यह पुरुष में है, और जो यह सूर्य में है । वह एक है ‡ । जो यह जानता है, जब वह इस लोक से चलता है, तो वह इस अन्नमय आत्मा को प्राप्त होकर, इस प्राणमय आत्मा को प्राप्त होकर, इस मनोमय आत्मा को प्राप्त होकर, इस विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त होकर, इस आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होकर, कामान्नी और कामरूपी (कामनानुसार भोगों वाला और कामना-

* विराट् की नाईं स्थूल भोगरूप साधनों वाला (आनन्दगिरि) बढ़ा हुआ वा वेदवाला (शंकरानन्द) ।

† परिमर = वायु । क्योंकि उसमें अग्नि, सूर्य चन्द्र, और विद्युत् लीन होते हैं । देखो कौषी० उप । २ । १२ ।

‡ मिलाओ २ । ८ से

नुसार रूप वाला) होकर इन सारे लोकों में घूमता हुआ यह साम गाता हुआ बर्तता है—* 'हावु, हावु, हावु ! मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं ! मैं अन्नाद (अन्न का खाने वाला) हूं, मैं अन्नाद हूं, मैं अन्नाद हूं ! मैं श्लोककृत् हूं, मैं श्लोककृत हूं, मैं श्लोककृत् हूं † ! मैं ऋत का प्रथमजा (पहली उत्पत्ति, सबसे बड़ा बेटा वा बड़ा भाई) हूं ‡। देवताओं से पहले मैं अमृत का नाभि (केन्द्र) हूं। § जो मुझे दे देता है, वही मेरी रक्षा करता है। मैं उसको अन्न के तौर पर खा जाता हूं, जो अन्न खाने वाला है। मैं सारे भुवन को दबाए हुए हूं। मैं ज्योति हूं, जैसाकि सूर्य है। जो इस प्रकार जानता है (उसके लिये यह यथोक्त फल होता है)। यह उपनिषद् है। १०।

भृगुः, तस्मै, यतोवै, विशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तत त्रयोदश (१) अन्नं (२) प्राणः (३) मनः (४) विज्ञानं, तद्विज्ञाय, तं, तपसा, द्वादश द्वादश (५) आनन्दः

---

* इस सामगान में मुक्त पुरुष की कृतकृत्यता दिखलाई गई है। हावु हावु। यह स्तोभ है अहो अहो (आश्चर्य, आश्चर्य) इस अर्थ में। तीन २ वार कहना सर्वत्र विस्मय (आश्चर्य होना) को जितलाता है।

† श्लोककृत्, श्लोक=अन्न और अन्नाद का मेल, उसका करने वाला, चेतनावान्। अथवा अन्नाद के लिये अनेक प्रकार से अन्न का संघात (मेल) करने वाला (शंकराचार्य), कीर्ति वाला (शंकरानन्द)

‡ ऋत=सत्य=मूर्त अमूर्त जगत्, प्रथमज पहले वर्तमान (शंकराचार्य, सुरेश्वराचार्य) प्रथमज=हिरण्यगर्भ (शंकरानन्द)

§ जो अन्नार्थियों को दिये बिना अन्न खाता है, उसको मैं अन्न के तौर पर खाता हूं और जो अर्थियों के ताईं मुझे (अन्न को) देकर खाता है, वह मेरी रक्षा करता है (शंकराचार्य)

इति, सैषा, दश (६) अन्नं न निन्द्यात, प्राणः, शरीरम् (अन्नं न परिचक्षीत, आपः, ज्योति (८) अन्नं बहु कुर्वीत, पृथिव्यामाकाशः, एकादशैकादश (९) न कंचन, एकषष्ठि (१०) दश ।

यह अनुवाकों का संग्रह है। पहला अनुवाक भृगु से आरम्भ होता है, इस में मुख्य वाक्य तस्मै, इत्यादि हैं । सारे वाक्य १३ हैं। २, ३, ४ अनुवाकों में बारह २ वाक्य हैं और इनमें मुख्य वाक्य तद्विज्ञाय, तं, तपसा, ये हैं । इसी प्रकार आगे जानना चाहिये । सारे 'अनुवाक दस हैं, इस लिये अन्त में दश कहा है 'एकान्नाविंशतिः' इस पाठान्तर में ब्रह्मवली और भृगुवल्ली के अनुवाक १९ बतलाए हैं।

ओ३म् । सहनाववतु। सहनौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवाव है । तेजस्विनावधीतमस्तु । मविद्विषावहै ।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।



६००) रु० इनाम

श्री वाल्मीकि रामायण की टीका पर।

(क) पं० राजाराम जी प्रोफैसर डी० ए० वी० कालिज लाहौर ने जो वाल्मीकि रामायण का हिन्दी उल्था किया है, वह ऐसा अद्वितीय और प्रामाणिक उल्था हुआ है, कि उस पर प्रसन्न होकर पञ्जाब यूनीवर्सिटी ने ५००) रु० और पञ्जाब गवर्नमिन्ट ने २००) रु० पण्डित जी को इनाम दिया है। (१) इस में मूल संस्कृत भी साथ है (२) हिन्दी टीका बड़ी ही सरल है, जिसको बच्चे भी चाव से पढ़ते हैं (३) कण्ठ करने योग्य उत्तम २ श्लोकों पर निशान दिये हैं॥

यह जीवन को सुधार कर नया जीवन बना देने वाली पुस्तक हर एक घर में अवश्य होने योग्य है। ऐसी उत्तम और इतनी बड़ी पुस्तक का मूल्य ५।) सुनहरी अक्षरों की जिल्द वाली ५॥।)

पण्डित जी संस्कृत के माने हुए विद्वान् हैं, उनकी और भी सभी पुस्तकें बड़ी योग्यता की हैं, और बड़ी ही सरल हैं।

(ख) **श्रीमद्भगवद्गीता**—इस पर भी पण्डित जी को गवर्नमिन्ट से ३००) इनाम मिला है। मूल श्लोक के नीचे पद पद का अर्थ, फिर अन्वयार्थ, फिर भाष्य है। मूल्य २)

(३) गीता हमें क्या सिखलाती है ।)

मनुस्मृति—हिन्दी भाष्य—पुराने भाष्यों के अर्थ, और दूसरी स्मृतियों के हवाले भी साथ हैं ३)॥

पता:—मैनेजर आर्षग्रन्थावलि, लाहौर।

(ग) ११ उपनिषदें ।

१—ईश	=)	७—ऐतरेय	≡)
२—केन	=)	८—छान्दोग्य	२)
३—कठ	।-)	९—बृहदारण्यक	१॥=)
४—प्रश्न	।)	१०—श्वेताश्वतर	।)॥
५—मुण्डक और माण्डूक्य	।-)	ग्यारह इकट्ठी लेने में	५॥,
६—तैत्तिरीय	।≡)		

(घ) उपनिषदों पर बड़े उत्तम २ विचार के ग्रन्थ—

(१) उपनिषदों की भूमिका—उपनिषदों के सभी विषय और उपनिषदों पर विचार करने वाले पुराने सभी आचार्यों के सिद्धान्त इस में दिखलाए गए हैं।

(२) उपनिषदों की शिक्षा—इस में सारी उपनिषदों के वाक्य देकर एक २ विषय ऐसा पूर्ण बना दिया गया है कि पढ़ने वाला गद्गद होजाता है। इसके चार भाग हैं। (१) पहला भाग—निरा परमात्मा के वर्णन में—परमात्मा के सम्बन्ध में बड़े २ अद्भुत ३७ प्रकार के विचार हैं ॥=) (२) दूसरा भाग—आत्मा और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में ६८ प्रकार के विचार ॥) (३) तीसरा भाग—मरने के पीछे की अवस्थाओं, कर्म, चरित और सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में ५५ प्रकार के विचार ॥) (४) चौथा भाग—उपासना, उपासना का फल, और मुक्ति के सम्बन्ध में ८१ प्रकार के विचार ॥=)

पताः—मैनेजर आर्षग्रन्थावलि लाहौर।